श्री शांतिसागर जैनग्रन्थमाला
४

श्रीयुत पं० अजितकुमारजी शास्त्री प्रभाकर लिखित

जैनधर्म का परिचय

जिसको

शोलापुर वासी गांधी हरीभाई देवकरण एण्ड सन्स द्वारा संरक्षित
श्री शांतिसागर (भारतीय) जैनसिद्धांतप्रकाशिनी संस्था के
महामन्त्री–ब्रह्मचारी पं० श्रीलाल काव्यतीर्थ ने
संस्था के पवित्र प्रेस श्री महावीरजी (राजस्थान) में
मुद्रकः–सेठ हीरालालजी पाटनी निवाईवालोंके
मंत्रित्व में छपाकर प्रकाशित किया

मार्गशीर्ष श्री वीर निर्वाण सं० २४८४

सबसे अच्छा धर्म

भारतके राष्ट्रपिता स्व० गांधी जी (मोहनदास जी कर्मचन्द्र गांधी) के

सुपुत्र, हिन्दुस्तानटाइम्सके सम्पादक श्री देवीदासजी गांधी

इंगलैण्डमें जब

यूरोप के भीष्मपितामह प्रसिद्ध विद्वान लेखक जार्ज वर्नार्डशा से

मिले और उनसे पूछा कि—सबसे अच्छा देश कौनसा है ?

तब उत्तरमें वर्नार्डशा ने कहा—

लंका

फिर श्रीदेवीदासजीने पूछा कि—

धर्म सबसे अच्छा कौनसा है ?

तब जार्ज बर्नार्डशाने उत्तर दिया कि—

जैनधर्म

इस पर श्री देवीदास जी ने जैनधर्म की उत्तमता का कारण पूछा तो

बर्नार्डशाने कहा कि

आत्माका पूर्ण विकास जैनधर्म द्वारा ही हो सकता है,

अतः वह सब धर्मों से उत्तम है।

आज उसी **जैनधर्म** का परिचय आपको

इस पुस्तक द्वारा

दिया जाता है।

आद्य निवेदन

जो पतित को पावन बना दे, भक्त को भगवान बना दे, हीन को महान कर दे, अशांत के हृदय को शांतिका भण्डार बना दे, दुखी को सुखी कर दे, पतन से उत्थान कर दे, तथा विश्वको मित्र बना दे उसको "धर्म" कहते हैं। जो ऐसा नहीं कर सकता भक्त को सदा भक्ति में ही अटका रहने दे, संसारकी व्यापक अशांति को न मिटा सके, विश्व मैत्री का पाठ न पढावे, किसीके साथ प्रेम और किसीके साथ घृणा करना सिखलावे, किसी की रक्षा और किसीका निर्दय नाश करनेका विधान करे वह धर्म नहीं है धर्मकी चमक के आवरण में ठोस अधर्म है।

मैं जिस धर्म का परिचय इस पुस्तक में दे रहा हूं उसने यह कहींभी किसी भी दशामें संकेत नहीं किया कि अमुक प्राणधारी का रक्षण करो और अमुक का न करो, विश्वमैत्रीका पाठ वह सबसे पहले सिखाता है, दूसरेके लिये बुराई करना तो दूर किन्तु बुरा सोचने तक का त्याग देनेका पद पद पर संकेत करता है, विश्वशांति का सुलभ मार्ग बतलाता है, छोटेसे लेकर बड़े तक चींटी से लेकर हाथी, मनुष्य तक यानी जीव मात्रको अभयदान देनेका मौलिक उपदेश देता है। यदि विश्व उसकी शिक्षा थोडी देर भी अपना ले अथवा उसकी छायामें ही क्षणभर आ जावे तो इस विशाल विश्वमें सर्वत्र सुखशांति तथा पावन प्रेम की धारा बह उठे।

जिसने कभी पाखण्ड का समर्थन नहीं किया, ढोंगको अपने समीप नही फटकने दिया और सत्य निरूपण करनेमें कभी जिसने संख्याबलका विचार नहीं किया, जिसके अकाट्य युक्तिबलको कोई पराजित न कर सका, उस जैन धर्म का परिचय इस पुस्तक में आपको मिलेगा।

जैनधर्म समय की दृष्टिसे सबसे अधिक प्राचीन ही नहीं किन्तु

अनादि है अतः वह किसी धर्म का अनुकरण नहीं, मौलिक है, आत्मा के बन्धन और मुक्तिका युक्तियुक्त स्पष्ट विवेचन इसमें ही पायाजाता है, भौतिक विज्ञान में कोई दर्शन जैन धर्मकी तुलना नहीं कर सकता परीक्षाके तोरपर शब्दका वैज्ञानिक विवेचन जैनधर्म के सिवाय अन्यत्र कहीं नहीं मिलता, 'वृक्षोंमें जीव है और वृक्ष सांस भी लेते हैं' यह वैज्ञानिक सिद्धांत जैनधर्म के अतिरिक्त कहीं नहीं पाया जाता। आत्मा के पूर्ण विकासकी साधन सामग्री जैन दर्शन ही दिखाता है, जगत की अनादि अनन्तताका पाठ जैनधर्म ही पढाता है, 'जीवका उत्थान, पतन, स्वर्ग, नरक, एवं मुक्ति दिलाने की सुन्दर युक्तियुक्त क्रिया जीव स्वयं करता है, ईश्वर इस विषय में कुछ नही किया करता' यह स्पष्ट सत्य जैन धर्म ने ही संसारके समक्ष रक्खा है, स्वावलम्बन और आत्मबल की देन इससे बढकर और क्या हो सकती है ? साधारण आत्मा अपने सद्‌यत्न से क्रमशः महात्मा और परमात्मा बन सकता है अथवा बना करता है यह युक्तियुक्त विवरण आप जैन धर्ममें ही अवलोकन कर सकेंगे।

जिसने सत्य श्रद्धाशून्य क्रियाकाण्ड को व्यर्थ बतलाया, अहिंसा द्वारा जगत् को सच्चारित्र का राजमार्ग बताकर स्याद्‌वाद सिद्धान्त से विचारोंकी गंदगीको दूर निकाल फेंकने की विधि सिखलाई, उस जैन धर्म का परिचय प्राप्त करना मानवमात्रके लिये आवश्यक ही नहीं बल्कि परम आवश्यक है। अतः जैसे मैंने यह पुस्तक लिखकर अपना आंशिक कर्तव्य पूरा किया है वैसेही आप भी इसका प्रेमसे अवलोकन करके अपना कर्तव्य पूरा कीजिये।

[लिखनेमें त्रुटि रह सकती है, सूचना मिलनेपर सुधार दिया जायगा]

विनीत—

अजितकुमार जैन शास्त्री
[चावली (आगरा), मुलतान]
देहली

माघ वदी ५ गुरुवार
वीर सं० २४७८
१७-१-१९५२

धन्यवाद ।

श्रीयुत बद्रीप्रसादजी सरावगी (पटना, कटनी, कलकत्ता) ने अपने स्वर्गीय लघुभ्राता केदारप्रसादकी स्मृति चिरस्थायिनी बनानेकेलिये इस "जैन धर्म–परिचय" पुस्तककी पांचसौ रुपयों की लागतकी प्रतियां सर्वसाधारणमें वितरण करनेको ली हैं। एतदर्थ धन्यवाद है।

स्वर्गीय भाई केदारप्रसाद छोटी ही आयुमें स्वर्गीय बनगये तो भी आप धर्मरुचि, मिलनसार जैनधर्मकी रुचिवाले थे इसलिये उनकी रुचिका ध्यान रखकर भाई बद्रीप्रसादजी सरावगीने जो ज्ञान दान किया है वह अनुकरणीय है।

जैनधर्मके प्रचारार्थ लाखोंकरोडोंकी संख्यामें ऐसी पुस्तिकाओंका वितरण होना चाहिये। इसलिये ज्ञानदानकी तरफ प्रत्येक धार्मिक दानीका लक्ष्य जाना चहिये।

प्रत्येक राजकीय, सामाजिक, सार्वजनिक संस्थाओंमें तथा आधुनिक शिक्षित स्त्री पुरुषोंके हाथोंमें ऐसी पुस्तकें पहुंचे तो जैनधर्मके विषयमें बहुतसी भ्रान्त धारणाएं दूर हो सकती हैं और आत्माओंका सच्चा कल्याण हो सकता है।

श्रीलाल जैन ब्रह्मचारी
महामन्त्री
श्री शांतिसागरजैनसिद्धांतप्रकाशिनी संस्था
श्रीमहावीरजी (राजस्थान)

पूत--स्मरण

णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं

णमो आइरीयाणं

णमो उवज्झायाणं

णमो लोए सव्वसाहूणं ॥

सबसे उत्तम पदमें स्थित

अतः

विश्ववन्दनीय

अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, सर्व साधुओंको

साष्टांग प्रणाम हो।

विषय-सूची

स्वर्गीय केदारप्रसाद सरावगी

जन्म-
वैशाख बदी १५,
विक्रम सं० १९५०

स्वर्गवास-
जेठ बदी १०,
सं० २०११ '
ता० २७-५-५४ गुरुवार

श्री वीतरागाय नमः ।

जैनधर्मका परिचय

जगत् अनादि है

यह दृश्य (दिखाई देने वाला) जगत अनादि समय (जिस समय की आदि-शुरूआत नहीं यानी सदा) से चला आ रहा है ये पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश आदि पदार्थ तथा मनुष्य आदि, पशु, पक्षी आदि जीव जन्तु जो आज दीख रहे हैं ये किसी विशेष (खास) समय में उत्पन्न नहीं हुए थे, सन्तान-परम्परा से सदा से चले आ रहे हैं। जिस प्रकार मनुष्य अपने माता पिता के रज वीर्य के संयोग द्वारा अपनी माता के उदर से ही उत्पन्न होता है । मानवीय रज वीर्य के सिवाय अन्य कोई वस्तु ऐसी नहीं है जो कि मनुष्य का शरीर उत्पन्न कर सके; इस कारण आज के मनुष्य अपने माता पिता से उत्पन्न हुए हैं, वे माता पिता अपने मातापिताओं से उत्पन्न हुए थे और वे माता पिता भी अपने माता पिताओं से पैदा हुए थे। यहीं क्रम भूतकाल में आगे आगे चलता चला जायगा । तदनुसार लाखों, करोड़ों, अरबों खर्बों पीढियों के पूर्वज मनुष्य भी अपने माता पिता से ही उपत्न्न हुए थे । यानी असंख्यात (अरब, खर्व, नील, पद्म, शंख आदि अङ्कों से गिनी जा सकने वाली संख्या की सीमा से बाहर) वर्ष पूर्व भी मनुष्य आज की तरह इस जगत में थे और उससे असंख्यात वर्ष पहले भी

मनुष्य जाति के प्राणी यहां थे जिन से कि मनुष्यों की उत्पत्ति परम्परा चलती रही।

इस पूर्वज (पितामाता) परम्परा को किसी समय समाप्त नहीं किया जा सकता क्योंकि जहां पर समाप्त करने की कल्पना की जायगी वहीं पर यह प्रश्न उपस्थित होगा कि 'उस समय के मनुष्य कहां से आये।' इस प्रश्न का सरल सीधा, निश्चित और अकाट्य एक यही उत्तर होगा कि 'उस समय के मनुष्यों की उत्पत्ति अपने अपने माता पिता के रज वीर्य से हुई थी।'

इस तरह मनुष्य प्राणी इस जगत में अनंत (जिसका भूत की अपेक्षा कहीं अन्त न हो) समय पहले से अर्थात् अनादि समय से है।

उसी प्रकार अपनी अपनी जाति के नर मादा के रज वीर्य से उत्पन्न होने वाले, हाथी, घोडे, गाय बैल, भैंस, सिंह, हिरण आदि पशु, कबूतर, तोता, कोयल आदि पक्षी भी सन्तान परम्परा से सदा से चले आ रहे हैं। अंडे से कबूतरी होती है और कबूतरी से अंडा होता है और अंडा देने वाली कबूतरी भी अंडे से उत्पन्न होती है और उस कबूतरी को जन्म देने वाला अंडा भी अन्य पहले की कबूतरी से उत्पन्न होता है। इस तरह कबूतर की परम्परा भी मनुष्य की परम्परा की तरह अनन्त वर्ष पहले की है या दूसरे शब्दों में यों कह लीजिये कि अनादि समय से कबूतर इस जगत में चले आ रहे हैं। कोई नहीं बतला सकता कि 'पहले कबूतर था या उसका अंडा।' क्योंकि वहां पर यही प्रश्न होगा कि यदि पहले अंडा था तो वह विना कबूतरी कबूतर के पैदा कैसे हुआ। और यदि कबूतर पहले पहल था तो वह कबूतर विना अंडे के कैसे आ गया? इस प्रश्न का समाधान भी मनुष्य के समान है। अतः कबूतर की परम्परा भी सदा से चली आ रही है, किसी एक विशेष समय से कबूतर की उत्पत्ति प्रारम्भ नहीं हुई।

ठीक यही बात अन्य सब गर्भज जलचर, थलचर पशुओं तथा

अंडज जलचर (मछली आदि); थलचर (छिपकली, सर्प आदि) और नभचर (तोता, मैना, चील आदि) पशु पक्षियों के विषयमें है ।

इन मनुष्य पशु पक्षियों के सिवाय अपने अपने निश्चित बीज से उत्पन्न होने वाले वृक्ष भी परम्परा से सदा से चले आ रहे हैं । आम का पेड़ आमकी गुठली से पैदा होता है और आम की गुठली आम के पेड पर लगने वाले आम से निकलती है । यानी आम का पेड आम की गुठली से उत्पन्न हुआ और आमकी गुठली आमके पेड से हुई । कोई नहीं बतला सकता कि 'पहले आमका पेड था या आमके पेड का बीज ।' इसका सारांश भी यह निकलता है कि बीज-वृक्ष परम्परा से आमका पेड सदा से (अनादि काल से) चला आरहा है उसकी उत्पत्ति का समय कोई निश्चित नहीं बतलाया जा सकता ।

इसका अर्थ यह हुआ कि जो अनन्त प्रकार की वनस्पति (पेड, बेल, पौधे) अपने अपने नियत बीजसे उत्पन्न हुआ करते हैं वह बीज-वृक्ष परम्परा से इस जगत में सदा से चले आरहे हैं 'ऐसा कोई भी समय न था जिस समय वे पेड यहां सर्वथा न हों और किसी एक विशेष समय से उनकी उत्पत्ति प्रारम्भ हुई हो ।

यह तो हो सकता है कि कोई वनस्पति किसी देश में पायी जाती हो-अन्य देशों में न होती हो जैसा कि आज कल भी देखा जाता है, केसर काश्मीर या स्वीजरलेण्ड में ही होती है वहां का जलवायु उसके अनुकूल है, भारत के अन्य किसी भाग में वह नहीं होती या नहीं हो सकती । किन्तु ऐसा कभी नहीं हुआ कि आज कल पाये जाने वाले केसर या अन्य वनस्पति (जो कि अपने नियत कारण बीज से पैदा होते हैं) किसी भी समय जगत में किसी भी जगह न हो ।

इस प्रकार मनुष्य तथा असंख्य जलचर, थलचर, नभचर गर्भज, अंडज पशु, पक्षी एवं नियत कारणों से उत्पन्न होने वाले अनन्त प्रकार के वृक्ष वनस्पतियां इस जगत में अनादि समय से सन्तान-परम्परा से चले आरहे हैं ।

जब अनन्त जीवराशि का अनादि काल से इस जगत में पाया जाना युक्ति से (तर्क-दलील से) सिद्ध है तब यह बात तो माननी पडेगी कि अनादि समय से ही उन असंख्य (थलचर) जीवों के रहने के लिये विशाल भूमि (जमीन), समस्त जीवों की प्यास बुझाने के लिये तथा जलचर (मगर, मछली आदि जलवासी) जीवों के रहने के लिये बहुत भारी जलराशि, जीवों को जीवित रखने के लिये तथा अन्न फल आदि पकाने के लिये पर्याप्त (काफी) गर्मी (जो कि सूर्य तथा अग्नि से प्राप्त होती है); श्वास लेने के लिये व्यापक (सब जगह पाई जाने वाली) वायु तथा नभचर (तोता, कबूतर, चिडिया आदि आकाश में उडने वाले पक्षी) जीवों को उडने के लिये आकाश अवश्य होना चाहिये एवं सबको प्रकाश देने के लिये सूर्य, चन्द्र भी होने आवश्यक हैं।

यानी—जीवनोपयोगी पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्र आदि पदार्थ भी तब से ही पाये जाने चाहिये जब से कि मनुष्य, जलचर, थलचर, और नभचर जीव। क्योंकि जीवन के लिये रहने का स्थान, भोजन, पानी, हवा, गर्मी और प्रकाश ये ६ वस्तुएं आवश्यक हैं, इनके बिना मनुष्य आदि प्राणी जीवित नहीं रह सकते और जीवन में सहायक ये ६ चीजें उपरि-उक्त (ऊपर कहे) पृथ्वी, जल, आग, वायु आकाश, सूर्य, चन्द्र से प्राप्त होती हैं। इस कारण जीव जब अनादि समय से इस जगत में पाये जाते हैं तब उनके जीवन (जिन्दगी) के लिये ये पृथ्वी, जल, अग्नि, आदि पदार्थ भी अनादि समय से ही जगत में चले आरहे हैं। जीव जन्तु समूह, पृथ्वी, जलकोष नदी, समुद्र, कूप, बावडी, आग, हवा, सूर्य, चन्द्र, आकाश आदि पदार्थों के समुदाय का नाम ही 'जगत' है। इसका सीधा सा अभिप्राय यह हुआ कि यह जगत—जिसका कुछ अंश हमको दीख रहा है और बहुत सा अंश हमारी दृष्टि से ओझल भी है—अनादि काल से यानी सदा से चला आ रहा है, किसी विशेष-निश्चित (खास) समय में इसका प्रारम्भ नहीं हुआ।

परिवर्तन

हां ! यह बात अवश्य है कि समय समय पर कुछ ऐसी प्राकृतिक (स्वाभाविक-कुदरती) घटनाऐं हुआ करती हैं जिससे इस जगत के किसी भाग में विनाश या निर्माण (बनाव-नयी उत्पत्ति) का दृश्य (नजारा) आ खडा होता है । जैसे कि पृथ्वी तल में (जमीन के भीतर) गन्धक, कोयले की खानों आदि में भारी गैस पैदा हो जाने पर उस गैस के पृथ्वी से बाहर निकलते समय भूकम्प का होना जिससे कि पृथ्वी बहुत जोर से हिलकर उथल पुथल कर डालती है, बडे बडे नगर नष्ट हो जाते हैं, कहीं नदी स्रोत आदि सूख जाते हैं, कहीं पर जलधारा निकल आती है, कहीं पृथ्वी समुद्र में डूब जाती है और कहीं समुद्र में से टापू [सूखी जमीन] निकल आते हैं, हजारों लाखों मनुष्य क्षणभर में काल के गाल में चले जाते हैं, पहाड टूट कर गिर पडते हैं । कभी ज्वालामुखी [आग उगलने वाले] पहाडों के एक दम फूट पडने से आस पास के नगर, गांव उस पहाड से निकलने वाले लावा [पिघले हुए पत्थर आदि की बहने वाली धारा] उड उड कर दूर तक गिरने वाले पत्थर, राख आदि में दबकर ऐसे नष्ट हो जाते हैं कि सैकडों वर्षों तक उनका चिन्ह तक नहीं मिलता, उनमें रहने वाले लाखों मनुष्य, पशु, पक्षी उसीमें रह जाते हैं, जैसे कि चार सौ वर्ष पहले लगभग एक लाख की जनसंख्या वाला इटली का पाम्पियाई नगर ज्वालामुखी पर्वत से निकली हुई राख में ऐसा समूचा दब गया था कि ३००-४०० वर्ष तक उसका पता भी न चला फिर इस शताब्दी में कुआं खोदने पर उसका पता चला । जैसे यहां पर गर्मियों में शिमला, मंसूरी आदि ठंडे पहाडी स्थानों पर जनता सैर करने जाती है उसी तरह इटली के लोग उस पहाडी नगर पंपियाई में सैर करने आये हुए थे, शाम का समय था यकायक अन्धेरा छा गया और ज्वालामुखी पर्वत के उडे हुए पत्थरों तथा गर्म राख से उस नगर के प्रायः समस्त प्राणी मर गये और राख से सारा नगर दब गया ।

इसी तरह भारी जलवर्षा हो जाने से नदियों में भारी बाढ़ आ जाने पर भी विनाश हो जाता है । पंजाब तथा सिन्ध में बहने वाली सिन्धु नदी ने ऐसे कई दृश्य दिखलाये हैं । पंजाब के उत्तर पश्चिम में [बिलोचिस्तान से लगा हुआ] एक डेरागाजीखान नगर था आज से लगभग ४० वर्ष पहले सिन्धु नदी के तीव्र प्रवाह ने उस नगर के एक के बाद दूसरे मकानों को जडमूल से उखाड कर अपने प्रवाह में ऐसा बहाया कि उस सुन्दर नगर का रंच मात्र भी चिन्ह नहीं छोडा. केवल नगर के बाह्य भाग छावनी के २-४ मकान रह गये तब उसी नाम से नया डेरागाजीखान शहर वहां से १८ मील दूर पर बसाया गया ।

कभी कभी भयानक आग से नगरों के नगर तथा हजारों मील लम्बे चौडे जंगलों का सत्तानाश हो जाता है, बिहार प्रान्त में जो नालंदा विश्व विद्यालय टीले खोदकर निकाला गया है उसके अनेक खन [मंजिल] हैं उनमें से एक खन का अवशेष यह साक्षी देता है कि वह समूचा आग लग जाने से नष्ट हो गया था ।

कभी राजनैतिक कारणों से नगर नष्ट भ्रष्ट हो जाते हैं जैसे भारत का विजयनगर तथा कोरिया [सियोल, प्योंगपांग आदि नगर] जापान [परमाणु बम से ध्वस्त हिरोशिमा, नागासीका नगर] आदि देशों के अनेक नगर युद्ध के कारण कुछ के कुछ हो गये, कभी कहीं पर नवीन नगर बस जाते हैं, व्यापारिक स्थानों में परिवर्तन होने से कहीं साधारण ग्राम महान नगर बन जाते हैं जैसे कलकत्ता, बम्बई और कई बियाबान हो जाते हैं जैसे हस्तिनापुर आदि ।

भूकम्प आदि कारणों से कोई नगर समुद्र तल में समा जाते हैं । इसके चिन्ह भी अटलांटिक समुद्र में मिल रहे हैं, इत्यादिक अनेक कारणों से समय समय पर अनेक महान परिवर्तन होकर नगर के जंगल और जंगल के नगर बन जाते हैं । निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता

कि पृथ्वी पर जैसे आज एशिया, यूरोप, अफ्रीका आदि महाद्वीपों की स्थिति है भूतकाल में भी वह ऐसी ही रही होगी।

जगत के निर्माण तथा विनाश के विषय में विभिन्न मत

जगत-रचना और जगत विनाश के विषय में प्रचलित अन्य मत- संप्रदायों के विभिन्न मत हैं जैसे कि :—

१—ब्रह्माद्वैतवाद—कहता है एक ब्रह्म है उसमें जब जगत-निर्माण की इच्छा हुई [एकोऽहं बहुः स्याम्] तब यह चर, अचर, जड चेतन रूप जगत बन गया। प्रलय होने पर सारा जगत उसी ब्रह्मरूप हो जायगा। जगत का प्रत्येक पदार्थ ब्रह्मरूप है। आदि।

किंतु यह मान्यता युक्ति तथा स्वाभाविक नियमों [कुदरती कानून] से सिद्ध नहीं होती क्योंकि सुखी एवं शुद्ध ब्रह्म में अशुद्ध इच्छा उत्पन्न क्यों हुई? अमूर्त ब्रह्म से मूर्तिमान पदार्थ बन नहीं सकते, बिना माता पिता के मानव कैसे बन गये। और ज्ञानी ब्रह्म से जड पदार्थ कैसे उत्पन्न हुए? आदि प्रश्न ब्रह्माद्वैतवाद की सृष्टि रचना को दश मिनट भी नहीं ठहरने देते।

२—ब्रह्माद्वैत के सिवाय हिंदू मत में सृष्टि की रचना और प्रलय एक सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, पूर्णसुखी दयालु, न्यायकारी परमात्मा के द्वारा अनेक प्रकार से होनी बतलाई है।

किंतु वह भी युक्तियों की बौछार से नहीं ठहर पाती क्योंकि सर्वज्ञ परमात्मा ने ऐसी भूल क्यों की जिससे दुष्ट, पापी, हिंसक, नास्तिक, संसार को दुखदेने वाले जीव बन गये, सर्वशक्तिमान होकर वह संसार से अन्याय, अत्याचार दूर क्यों नहीं कर देता। उसने दुखी, दरिद्री लोग क्यों पैदा किये? जब पहले कुछ था ही नहीं तब उसने कहां से और किन निमित्त, उपादान कारणों से यह जगत बनाया? बिना बीज के वृक्ष और बिना माता पिता के गर्भज मानव कैसे उत्पन्न

किये। आदि प्रश्नों का युक्तियुक्त संतोष जनक उत्तर हिंदु भाइयों तथा आर्यसमाज के पास कुछ नहीं है। इसके लिए अमैथुनी सृष्टि की कल्पना उन्हें और भी अधिक उलझन में डाल देती है।

३—इस्लाम कहता है कि पहले कुछ नहीं था तब सातवें आसमान पर बैठे हुए खुदा ने कहा कि 'कुन फय कुन' यानी 'बन जा' यह कहते ही सारी दुनिया बन गई। इस समय जो जीव मरते हैं वे पैदा नहीं होते। कयामत [प्रलय] के दिन खुदा सारी दुनिया को फना [नष्ट] कर देगा। तब मरे हुए प्राणियों का इंसाफ करके पापियों को दोजख [नरक] में भेज देगा और ईमान वालों [मुसलमानों] को जन्नत [स्वर्ग] में भेज देगा।

४—ईसाई मत में भी इससे मिलती जुलती जगत रचना तथा प्रलय [जगत के नाश] की कल्पना की है, कुछ थोडा अंतर है, जैसे कि गौड [परमात्मा] ने छह दिनमें क्रम से पृथ्वी, आकाश, सूर्य, चंद्र मानव, जानवर आदि बना दिये और सातवें दिन रविवार को विश्राम [आराम] किया। उसी के अनुकरण में ईसाई लोग भी रविवार को छुट्टी करके आराम किया करते हैं।

किंतु ये कल्पनाएं भी युक्तियों से जांचने पर टिक नहीं पातीं। मोटा प्रश्न जब यह सामने आता है कि प्राकृतिक नियम अनुसार जब अमूर्त पदार्थ से [खुदा या गौड से] मूर्त [दीख पडने वाले जड पदार्थ] बन नहीं सकते, विनामुर्गी से उसका अंडा या विना अंडे से मुर्गी नहीं हो सकती; विना बीज के गेहूँ, जामुन, आम आदि के पेड नहीं उग सकते और उनके बीज उन पेडों के विना नहीं हो सकते तथा विना माता पिताके रज वीर्य के मनुष्य किसी तरह नहीं उत्पन्न हो सकते, तब उस खुदाने यह सब कैसे कर दिखाया! इसका सन्तोषजनक उत्तर आज तक कोई भी नहीं दे पाया।

अन्ध श्रद्धा से अयुक्त बात भी मान लेना विचारशील मनुष्यका

कार्य नहीं। अतः जगत रचना-प्रलय विषयक समस्त कल्पनाएं निराधार एवं असत्य हैं। उनको विना परीक्षा किये मानते चले जाना उचित नहीं।

जगत का वैज्ञानिक विश्लेषण।

संसार में जितने भी पदार्थ हैं वे उतने ही रहते हैं, इनमें से न तो कोई कम हो सकता है और न उनमें कुछ वृद्धि ही होसकती है। इसका कारण यह है कि जो पदार्थ विद्यमान हैं वह सर्वथा (बिलकुल) नष्ट नहीं हो सकता और न कोई नवीन पदार्थ उत्पन्न हो सकता है। स्वाभाविकरूप से प्रत्येक पदार्थ में 'सत्ता' (मौजूदगी) नामक एक गुण होता है, इस गुण के कारण पदार्थ का अस्तित्व कभी मिट नहीं सकता। **'सत्ता सव्व-पयत्था'** यानी-सत्ता सब पदार्थों में पाई जाती है।

हां! इतना अवश्य है कि प्रत्येक पदार्थ की दशा सदा एकसी नहीं बनी रहती, अपने ढंग से वह सदा बदलती रहती है। जैसे कि एक बच्चा उत्पन्न हुआ वह प्रतिक्षण बढ रहा है, उसके शरीर, बल, बुद्धि आदि में प्रतिक्षण परिवर्तन आरहा है। वह शिशु, किशोर कुमार होता हुआ कुछ वर्षोंबाद युवक (जवान) हो जाता है फिर अधेड होकर, वृद्ध होकर किसी दिन यह शरीर छोडकर किसी नवीन शरीर में चला जाता है। इस तरह उस बच्चे का आत्मा प्रतिक्षण बदलता तो रहा किन्तु वह कभी समूल नष्ट नहीं हुआ।

इसी तरह एक बीज से एक अंकुर निकला वह पौदा होता हुआ किसी दिन बडा भारी भरकम वृक्ष बन गया, फिर कभी अपने आप सूख भी गया। उसकी सूखी हुई लकडी से मेज, कुर्सी अलमारी आदि चीजें बन गईं; कुछ लकडी आग में जल गई जल कर उसके कोयले या राख हो गई। उस एक बीजके परिवर्तन में इतने काम तो हुए; बडी-बडी चीजें बनीं और बिगडीं किन्तु विचार किया जावे तो उनमें न तो एक रत्ती भर नया अंश और उत्पन्न हुआ और न कोई रत्ती भर अंश सर्वथा नष्ट हुआ। बीज के साथ जो मिट्टी; खाद; पानी; हवा आदि

पदार्थ मिलकर पेड़के रूप में हुए थे उनके रूप में तो परिवर्तन (तब्दीली) हुआ किन्तु उसमें बाहर से (जगत के पदार्थों के अलावा) और कोई नया पदार्थ आकर नहीं मिला और न उसमें से जरा भी अंश कम हुआ। दश मन लकडी जलकर यदि उसकी राख एक मन भी नहीं रही तो इसका यह अर्थ नहीं कि शेष अंश बिलकुल नष्ट हो गया यदि उस जलने वाली लकडी से निकला हुआ धुआं; गैस; राख आदि का वैज्ञानिक ढंग से वजन किया जावे तो उन सबका वजन दश मन ही होगा।

इसका अर्थ यह हुआ कि प्रत्येक पदार्थ प्रतिक्षण बदलता अवश्य है किन्तु उसमें से न तो कुछ अंश सर्वथा नष्ट हो जाता है और न कुछ अंश उसमें जगत के बाहर से नया आ जाता है। बीज से अन्न पैदा हुँआ; अन्न से भोजन बना; भोजन खाया गया। उससे शरीर में रस; रक्त आदि धातु बनीं तथा कुछ टट्टी; पेशाब; पसीना आदि के रूप में शरीर से बाहर होकर मिट्टी बन गया।

प्राकृतिक परिवर्तन

वर्षा के दिनों में पानी बरसा, वह पानी कुछ जमीन में गया, कुछ नदी नालों से होकर समुद्र में चला गया। समुद्र का पानी सूर्य की गर्मी से भाप बन कर उडता रहा और बादल के रूप में आकाश में एकत्र होता गया फिर कभी ठंडक पाकर वह बादल पानी के रूप में होकर बरस पडा; अधिक ठंडक मिली तो वह बरसता हुआ पानी ओला या बर्फ बन गया। इस तरह प्रतिक्षण पृथ्वी के भीतर; पृथ्वी के ऊपर; समुद्र-नदियों के भीतर; उनके ऊपर; हवा में; आकाश में अनेक तरह के परिवर्तन हुआ करते हैं। जिससे पार्थिव (पृथ्वी के पदार्थ); जलीय (जलरूप वस्तुएं) आग्नेय (आग रूप बिजली आग आदि) पदार्थ तथा वायु यथा संभव निमित्त पाकर यथायोग्य बदलते रहते हैं।

आक्सीजन (प्राणवायु) और हायड्रोजन गैस अपनेआप मिलकर भी पानी बन जाया करती है और यदि मनुष्य वैसे ढंग से बनाना चाहे

तो मनुष्य भी उन दोनों गैसों से पानी बना सकता है। जंगल में पेडों से गिर कर फल जमीन पर पडे पडे सूख या सडकर गुठली के रूप में हो जाते हैं वही गुठली यदि मिट्टी पानी; हवाका ठीक संजोग पा जावे तो उससे अपने आप अंकुर निकल कर पौदा बन जाता है वह पौदा पेड हो जाता है। इसी कार्य को माली अपने हाथों से बाग में किया करता है।

जमीनके भीतर जहां जैसे पदार्थोंका संयोग मिल रहा है वहां वैसे गन्धक; लोहा, शीशा; पारा; तांबा; कोयला; सोना चान्दी; जस्ता पत्थर नीलम आदि पदार्थ स्वयं (अपने आप) बन रहे हैं। आकाशमें बादलोंसे बिजली स्वयं बन जाती है और वैसी ही प्रक्रियासे मनुष्य बिजली बना लेते हैं। इस तरह वायुमें; आकाशमें हजारों तरह के पदार्थ अपनेही रूप में बदलते रहते हैं। सूर्य; वायु; गेस; भाप आदिके परिवर्तनसे वायुमंडल गर्मी; शर्दी; वर्षा के रूपमें हो जाता है। यह ऋतु परिवर्तन कारणों के अनुसार कभी कुछ अधिक; कभी कुछ कम; कभी कुछ समय आगे कहीं कभी कुछ समय पहले हो जाता है जिससे कभी शर्दी; गर्मी; वर्षा कम और अधिक हो जाती है। कारणों के अनुसार ही कहीं ठंड अधिक होती है कहीं हिमालय पर्वतादिपर बर्फ जमती रहती है; कहीं अरब; अफ्रिका आदिमें गर्मी अधिक होती है; कहीं चेकापूंजी आदिमें पानी अधिक बरसता है।

सारांश यह है कि जगतमें जहांपर जैसे पदार्थोंका जिससमय जैसा संयोग (मिलाप) होता है वहांपर उस समय वैसाही प्राकृतिक (कुदरती) परिवर्तन हुआ करता है। चेचक; मलेरिया; हैजा; प्लेग; एन्फ्ल्युन्जा (कफज्वर) आदि महारोग भी ऐसे ही प्राकृतिक कारणोंके मिलनेपर फूट पडते हैं।

ईश्वरवाद

हमारे ईश्वरवादी (ईश्वरको जगतका कर्ता, हर्ता मानने वाले)

सम्प्रदाय अपनी पुरानी मान्यताके अनुसार यह सब प्राकृतिक परिवर्तन (ऋतुओंका पलटना, रोग फैलाना आदि) ईश्वरके जिम्में लगा देते हैं। उन्होंने ईश्वरको एक ऐसा भोला, भद्र व्यक्ति पकड लिया है जिसके जिम्मे, मारना, लूटना, काटना, अत्याचार, व्यभिचार, अनाचार, जिलाना, विध्वंस करना, बचाना, चोरी करना आदि जगतके सभी काम लगा दिये हैं। वह किसीको दंड देनेके लिये किसी डाकू; चोर; गुंडे; कसाई; दुष्ट; बदमाश आदिके द्वारा ये काम करा रहा है क्योंकि उसकी इच्छाके विना पत्ता भी नहीं हिल सकता। रोग भी वही फैलाता है, मारता भी वही है, बचाता भी वही है, चोरको चोरी करने भी वही भेजता है, उधर उस चोर को पुलिससे पकडवा भी वही देता है, विध्वंशकारी महायुद्ध भी उसी ईश्वरकी प्रेरणा पर हुआ करते हैं। सारांश यह है कि जगत के समस्त अच्छे बुरे कार्य उस एक ईश्वर-परमात्मा, खुदा या गौडकी इच्छासे ही होते हैं।

ईश्वरवादकी निःसारता

इस विषयमें विचार करनेकी यह बात है कि कृतकृत्य परमात्मा को जगत बनानेकी इच्छाही क्यों होती है क्योंकि इच्छा तो अधूरे व्यक्तिको हुआ करती है, क्या ईश्वर अभी तक परिपूर्ण नहीं है, अधूरा है?

ईश्वर सर्वज्ञ है तो उसे भविष्यका यह ज्ञान होना ही चाहिये कि मेरे बनाये हुए जीवोंमें से अमुक जीव दुष्ट, गुंडा; हिंसक; व्यभिचारी होगा फिर उनको उत्पन्न क्यों किया?

ईश्वर दयालु न्यायकारी है तो पहले जीवोंको पाप कार्य क्यों करने देता है? और पाप कर लेने पर फिर अनेक तरहके दुःख क्यों देता है? दूसरों को दुःख देने वाले प्राणी भी जब ईश्वर की प्रेरणासे अन्य जीवों को उनका कर्मफल भुगाने के लिये दंड रूपमें दुःख देते हैं तब ईश्वरकी उस पुलिशको (दुख देने वाले दुष्ट गुंडोंको) यहांकी सरकारी पुलिस क्यों पकडकर सजा देती है?

ईश्वर जब सर्व शक्ति मान (सब कुछ कर सकने वाला) है तो संसारके

दुख; अत्याचार; युद्ध रोग आदि बुरे काम होनेसे पहले ही क्यों नहीं रोक देता ?

ईश्वरने जब जगत बनाया है तब प्रलय करके उसका नाश क्यों किया करता है ? तथा विना रज वीर्यके मनुष्य आदि गर्भज जीव और विना बीजके वृक्ष कैसे बना देता है ?

इत्यादि प्रश्नोंकी बौछारों से अन्धश्रद्धासे खडीकी हुई ईश्वरीय लीला की कच्ची दीवार गिरकर धराशायी हो जाती है।

विज्ञान प्रयोग करके यह बात सिद्ध करता है कि जगतके सभी जड चेतन; चर अचर पदार्थ सदासे विद्यमान हैं और सदा बने रहेंगे। वे न तो किसी खास समयमें बने हैं और न किसी समय सर्वथा नष्ट हो सकते हैं। जितने हैं उतने ही रहेंगे। हां उनकी हालतें प्रतिसमय बदलती रहती हैं; किन्तु इस परिवर्तनके समय जो पदार्थ जड (जीव शून्य-अजीव) हैं वे चेतन (जीव) नहीं हो जाते और जो चेतन (जीव) हैं वे अचेतन (जड-ज्ञानशून्य) नहीं हो जाते। अमूर्त (स्पर्श; रस; गन्ध; रंग-शून्य पदार्थ जैसे आकाश) पदार्थ पलट कर मूर्त (दिखाई देने) नहीं हो जाते और न उस तब्दीलीके समय कोई मूर्त पदार्थ अमूर्त बन जाता है। यानी हालतें बदलते हुए भी प्रत्येक पदार्थ अपने ही रूपमें रहता है। इस प्रकार यह जगत अनादि-अनंत है।

ऐतिहासिक विवरण

भगवान ऋषभदेव

प्रचलित धर्म-परम्परा का आदिश्रोत

इस जगतमें कभी कभी उन महान व्यक्तियोंका प्रादुर्भाव (उदय) होता है जो अन्य साधारण मनुष्योंसे बुद्धि, बल, पराक्रममें बहुत उन्नत होते हैं और अपने जीवनमें लोक कल्याण का असाधारण आदर्श कार्य कर जाते हैं।

आजसे करोडों वर्ष पहले ऐसे ही एक महान आत्मा अयोध्या नगरमें राजा नाभिरायके राजमहलमें, माता मरुदेवीकी कोखसे उत्पन्न

हुए जिनका नाम 'ऋषभदेव' रक्खा गया। श्री भगवान ऋषभदेव अपने समयके एक असाधारण (लासानी) पराक्रमी; बुद्धिमान; गुणवान व्यक्ति थे; इनके उत्पन्न होनेसे पहले यहां पर भोगभूमिका समय था; जनता को अपने जीवनके उपयोगी पदार्थ; भोजन; वस्त्रआदि कल्पवृक्षों से मिल जाया करते थे उसके लिये उन्हें कुछ खेती वाडी आदि परिश्रम करनेकी आवश्यकता न होती थी; उनका जीवन विना किसी खास परिश्रमके आरामसे बीतता था। किन्तु समय सदा एकसा नहीं रहता अतः समय बदल गया और वे जीवन उपयोगी पदार्थ उन वृक्षों (कल्प वृक्षों) से मिलने बन्द हो गये। तब जनता भोजन वस्त्र आदि न मिलने के कारण बहुत दुखी हुई। उस समय विशेष ज्ञानी (अवधिज्ञानी) भगवान ऋषभदेवने उन लोगोंको खेती वाडी करनेकी विधि समझाई, उत्पन्न हुए अन्नसे भोजन बनाने की रीति बताई।

इसके सिवाय बर्तन बनाना; वस्त्र बुनना; पशुपालन व्यापार करना आदि कार्य जनताको सिखलाए समस्त आजीविकाके कार्य व्यवस्थित ढंग से चलते रहें इसके लिये लोगोंकी जन्मजात योग्यताके अनुसार क्षत्रिय वैश्य; शूद्र वर्गमें तत्कालीन जनता को विभाजित किया।

तथा अपने समस्त पुत्रोंको मल्लविद्या; शस्त्रचालन; राजनीति; काम कला आदि अनेक कलाएं सिखलाईं। तदनन्तर उनकी दोनों पुत्रियां ब्राह्मी और सुन्दरी भगवान के पास आईं; ब्राह्मी भगवानकी गोद में बांयी ओर बैठ गई और सुन्दरी दाहिनी ओर बैठ गई। उन दोनोंने भगवानसे कहा कि पिताजी! हमको भी कुछ सिखाइये।

भगवान ऋषभदेवने बड़े दुलारसे कहा कि कहो बेटी! तुमको कौन सी विद्या सिखलाऊं?

दोनों पुत्रियोंने उत्तर दिया कि–हमको 'अक्षय' (अविनश्वर) विद्या सिखलाइये।

भगवान ऋषभदेव बहुत प्रसन्न हुए और बड़े प्रेमसे बोले कि अच्छा बेटी अक्षय या अक्षर विद्या सिखाता हूँ।

ब्राह्मीसे कहा कि अपना हाथ आगे निकालो; ब्राह्मीने अपना बाहरी हाथ (बाया) अपने पिताके सामने कर दिया। भगवानने अपने दाहिने हाथकी अमृतांगुलि (अंगूठेको अमृतांगुलि कहते हैं क्योंकि अंगूठेको चूस कर छोटा बच्चा अमृत जैसा अनुभव करता है) से उसके हाथपर अ इ उ ऋ लृ ए ऐ ओ औ ये नो स्वर ह्रस्व दीर्घ और प्लुत रूप यानी २७ स्वर तथा क ख ग घ ङ आदि ह तक ३३ व्यंजन एवं अनुस्वार विसर्ग : जिव्हामूलीय क उपध्मानीय प ये चार योगवाह (समस्त मिलकर ६४) अक्षर लिखकर सिखलाये और कहाकि समस्त संसार की मानुषीय भाषाएं इन ६४ अक्षरों द्वारा लिखी जा सकेंगी।

फिर सुन्दरी को कहा कि तुम भी अपना हाथ बाहर करो। सुन्दरी दाहिनी ओर बेठी थी उसका बाहिरी हाथ दाहिना था इसलिये उसने अपना दाहिना हाथ बाहर निकाला। भगवान ने उसपर अपने हाथ बांऐ से अमृतांगुली (अंगूठे) से शून्य बना दिया और उस शून्य के खण्डोंसे पूरी संख्या १-२-३-४-५-६-७-८-९-० दिखलादी संकलन (जोडना) तथा विकलन (घटाना) गुणा भाग करना आदि गणित विद्या सिखलाई।

यहां एक बात यह और हूई कि भगवानने ब्राह्मीके बाये हाथ पर अपने दाये हाथ से अ इ उ आदि अक्षर लिखे थे वे सुविधाके अनुसार बांई और से दांई और चलते हूवे लिखे और सुन्दरी उनका गोद में दाहिनी ओर बैठी थी इसके दाहिने हाथ पर अपने बांये हाथसे १-२-३-४-५ आदि अंक लिखे वह हाथ सुविधासे दांई ओरसे बाहीं ओर चला, इसकारण दहाई, सेकडा, हजार, लाख आदिका क्रम अक्षरोंके लिखने का अपेक्षा उलटा चला तदनुसार 'अंकानां वामतो गतिः' यानी-अंको (हिंदसां फीगर्स का संचार दाहिनी ओरसे बांयो ओर चलता हूवा होता है) की पद्धति वामप्रचलित हुई।

आज भी उसी प्रकार पद्धति चल रही है।

ब्राह्मी के नाम पर अक्षरों की लिपी का नाम भी 'ब्राह्मीलिपी' पड गया। ब्राह्मीलिपी सब लिपीयों से प्राचीन मानी जाती है और उन चोंसठ अक्षरों द्वारा संसारकी समस्त भाषायें लिखी जा सकती हैं।

इसप्रकार कर्मभूमि के प्रारंभ में भगवान ऋषभदेवने भिन्न भिन्न व्यक्तियोंको उनकी रुचि तथा योग्यता के अनुसार भिन्न २ विद्याऐं यथायोग्य सिखायी, स्वयं राज्य शासन पर बैठकर निष्कंटक आदर्श राज्य कीया। राज्य करते हूवे एक दिन वे राज-सभामें नृत्य करने-वाली नीलांजना नामक अप्सरा की अचानक मृत्यु देखकर संसारसे विरक्त हो गये।

भगवान ऋषभदेव का साधु जीवन

तब उन्होंने अपना राजपद अपने सबसे बडे पुत्र भरत को देकर आप सब कुछ त्याग कर नग्न साधु बन गये और छह महिने का योग लेकर (आहार पानी चलना फिरना आदि छोड़कर) आत्मध्यानमें बैठ गये। छह महिने बाद जब वे आहार (भोजन) करने के लिये नगरमें आये तब लोग उनकी इच्छा को न समझते हुए उनकी भेंट करने के लिये कभी हाथी कभी घोडा कभी सोना चांदी कभी रत्न आदि पदार्थ लाते जिनकी भगवान ऋषभदेव को आवश्यकता न थी अतः वे मौन (चुपचाप) रहते और वापिस जंगल को लौट जाते। दूसरे दिन अन्य नगर में भोजनार्थ जाते परन्तु वहां भी लोग उनको महान पुरुष समझकर बहुमूल्य पदार्थ सुन्दर वस्त्र आभूषण आदि तो भेंट करने आते किंतु ठीक रीतिसे शुद्ध भोजन कराने का विचार किसीके हृदय में न आता और उधर भगवान ऋषभदेव स्वयं कुछ न बतलाते मौन ही रहते और विधि अनुसार भोजन न मिलनेपर तपस्या करने वापिस वनको लौट जाते।

इस तरह होते होते छह मास और बीत गये यानी बिना भोजन पान किये भगवान ऋषभदेवको एक वर्ष हो गया।

तत्पश्चात् वे विहार करते (घूमते फिरते) हस्तिनापुर पहुंचे वहांके राजा श्रेयांसको रात्रिके समय कुछ अच्छे स्वप्न आये उनके कारण उसको मालुम हुआ कि कोई महान पुरुष कल मेरे यहां पधारेगा। दूसरे दिन जबकि वह अपने स्वप्नके अनुसार किसी महान पुरुषकी प्रतीक्षा कर रहा था तब उसको आहारके लिये आते हुए भगवान ऋषभदेव दिखाई दिये। वह बहुत प्रसन्न हुआ उसने बडे आदरके साथ अपने

राजभवनमें ले जाकर भगवान ऋषभदेवको ठीक ठीक रीतिसे ईखका रस पीनेके लिये दिया। भगवान ऋषभदेवने तीन अंजुल रस पिया और फिर चुपचाप तपस्या करनेके लिये वनमें वापिस चले गये। वह दिन वैशाख सुदी तृतीयाका था। उस दिन राजा श्रेयांसका भोजन भंडार अक्षय (हजारों मनुष्योंको भोजन करा देने पर भी क्षय-समाप्त न होने वाला) हो गया था इसी कारण वैशाख सुदी तृतीया 'अक्षय तृतीया' के नामसे प्रसिद्ध हो गई।

भगवान ऋषभदेव संसारके सब पदार्थों से अपने पुत्र; स्त्री आदि परिवारसे यहां तक कि अपने शरीरसे भी मोह छोड चुके थे; काम क्रोध; मान; मत्सर; लोभ; छल आदि अजेय दुर्भावोंका दमन करते हुए; मौन रूपसे कठिन तपस्या कर रहे थे, गर्मी, वर्षा; शर्दीके दिन अपने नंगे शरीर पर झेल रहे थे; कभी कभी थोडासा साधारण भोजन करने नगरमें थोडी देरके लिये आते थे अपना शेष समय वन; पर्वत; गुफा आदि एकान्त स्थानमें आत्मशुद्धिके लिये तपस्या करनेमें लगाते थे। इस प्रकार परमहंस रूपमें तपस्या करते करते उनको बहुत समय हो गया तब उनके ज्ञानावरण (ज्ञानको कम करने वाला); दर्शनावरण (दर्शनगुणके पूर्णविकास को रोकने वाला कर्म); मोहनीय (समता भावका घातक-मोह; राग;क्रोध आदि दुर्भाव पैदा करने वाला) और अन्तराय (आत्माकी पूर्ण-शक्ति के विकाशमें रुकावट डालने वाला)-इन आत्मगुणोंके घातक चार कर्मोंका पूर्ण तौरसे क्षय होगया।

भगवान ऋषभदेवको कैवल्यपद

उन कर्मोंके नष्ट हो जानेसे भगवान ऋषभदेवमें काम; क्रोध; राग; द्वेष मोह क्षोभ आदि विकृतभाव सर्वथा दूर होगये अतः वे पूर्ण वीत-राग (किसी भी पदार्थसे रंचमात्र भी प्रेम व घृणा न करने वाले; पूर्ण समभावी) होगये; ज्ञान; दर्शन गुणोंका पूर्ण विकाश उनमें हो गया अतः तीन लोक व त्रिकालज्ञाता-द्रष्टा (भूत; भविष्य; वर्तमानकाल तथा त्रिलोकवर्ती पदार्थोंके जानकार) हो गये; अनन्त बल उनके आत्मामें विक-

सित हो गया और समस्त इच्छाओं; आकुलताओं; क्लेशों और कष्टोंसे छूट गये इसलिये अनन्त सुख उनके आत्मामें प्रगट होगया।

समस्त दुर्भावों को जीत लेनेके कारण उनका नाम 'जिन' (जयति इति जिनः यानी-जीतने वाला) प्रसिद्ध होगया। उस समय सांसारिक जीवोंके कल्याणके लिये उनका उपदेश करानेके लिये देवोंने एक बडा भारी सुन्दर सभामण्डप बनाया जिसका नाम 'समवसरण' रक्खा गया उस समवशरणके बीचमें सबसे ऊंचे स्थान पर भगवान ऋषभदेव का आसन था और वहांसे उनका धर्म-उपदेश हुआ। इससे पहले साधु अवस्थामें वे पूर्ण मौन (चुप) रहे; अब चूंकि पूर्ण ज्ञाता-द्रष्टा और पूर्ण वीतराग हो गये थे अतः संसारके कल्याणके लिये उनका दिव्य उपदेश हुआ। उनका उपदेश सुननेके लिये देव-देवियां; मनुष्य स्त्रियां; साधु साध्वी और पशु पक्षी भी आये उस सभामें बैठकर सबने बडी शान्तिसे उनका उपदेश सुना; सिंह हिरन चूहा बिल्ली; सर्प न्यौला आदि जाति-विरोधी जानवर भगवान ऋषभदेवकी परम शान्तिके प्रभावसे इतने प्रभावित हुए कि वे वहां साथ साथमें बैठकर शान्तिसे उपदेश सुनते रहे किसीने किसी को सतानें मारनेका मनमें भी विचार नहीं किया।

भगवान का उपदेश

भगवान ऋषभदेवके उपदेशका सारांश यह था—

'हे संसारके प्राणियो! जिस सुख शान्तिको पानेके लिये तुम इतनी भाग दौड कर रहे हो वह सुख शान्ति किसी बाहरी वस्तुमें नहीं रक्खी हुई है, वह तो तुम्हारे भीतर लबालब भरी हुई है। अपनी दृष्टि बाहरसे हटाकर अपने भीतर डालकर अपने आत्माका निरीक्षण तो करो। संसार का कोई भी पदार्थ न अच्छा है; न बुरा है तुम अपनी भूलसे उनमेंसे कभी किसीको अच्छा और कभी किसीको बुरा मानकर उनसे मोह और घृणा करते हो। इसी कारण तुम कर्म बन्धनमें पडते हो यदि तुम अपनी इस भूलको सुधार लो तो तुम भी मेरे समान शुद्ध बुद्ध, सुखी बन सकते हो।

संसारके सभी छोटे बडे जीव जन्तु एक समान हैं; सबको अपने

समान समझो जो बातें तुमको अपने लिए बुरी मालूम होती हैं उन बातों से दूसरेको भी दुख होता है; अतः तुमको चाहिए कि वे बातें तुम औरोंके लिये भी पैदा न करो। दूसरोंको सुधारनेसे पहिले अपना सुधार करो। दूसरोंके दोष देखनेके बजाय अपने दोष देखो। जब तुम शान्तिसे जीना चाहते हो तो दूसरे जीवों को भी शान्ति से जीने दो उनको कोई कष्ट न दो।

कर्म बन्धनमें तुम स्वयं पडे हो और तुम उससे स्वतंत्र भी स्वयं (अपने आप) हो सकते हो, सांसारिक दुखोंसे तुमको छुडानेके लिये कोई और नहीं आवेगा। तुम्हारे बुरे विचार ही तुमको दुख देते हैं और तुम्हारे अच्छे विचारोंसे ही तुमको सुख प्राप्त होता है, मुक्ति भी तुमको तुम्हारे शुद्ध परिणामोंसे मिलेगी। इस कारण जबतक तुम अपने श्रद्धान ज्ञान और आचरण का ठीक सुधार न करोगे तब तक तुम्हारा कल्याण कदापि नहीं हो सकता।'

यह शरीर जिसमें तुम रहते हो तुम्हारे आत्माकेलिये कारागृह (जेल) है, तुमने अपने पूर्व भवमें जो अपराध कियेथे उसके दंडमें यह जेल तुमको मिली है। जबतक उसकी अवधि (समयकी मियाद) समाप्त नहीं होगी तब तक तुम्हारा आत्मा इसी बन्दीगृह में रुका रहेगा यह शरीर अनेक रोगव्याधियोंका घर है, शरीर में यदि कोई रोग होता है तो आत्मा को व्यर्थमें कष्ट उठाना पडता है। शरीर यदि रोगशय्यापर गिर पडे तो आत्मा कुछ भी कर्म नहीं करपाता, इस कारण इस बन्दीगृह को अपना समझलेना और इसीकी सेवामें खिलाने पिलाने मालिश करनेमें लगे रहना भारी भूल है। इस शरीरसे आत्मशोधनका काम लो, व्रत, तप, संयम से आत्मशुद्धि होती है इस लिये इस शरीरसे व्रत, तप, संयमके साधन करने का काम लो। इस शरीर को उतना भोजन दो जितने से यह तुम्हारी आत्मशुद्धिका कार्य करनेमें सहायक रहे।

शरीर के उत्पन्न होनेसे न तो आत्मा उत्पन्न होता है और न शरीरके नष्ट होनेसे आत्माका नाश होता है। शरीर एक जड, नश्वर मकान है, आत्मा अजर अमर अविनश्वर चैतन्य पदार्थ है। समय बीत जानेपर

यह मकान आत्माको छोड़ना पडता है जिस को मरण कहते हैं। तुम ऐसा मरण करो कि फिर तुमको न मरना पडे। शरीर, विषयभोग और सम्पत्ति के चकाचौंध में अपनी आत्मनिधिको कभी न भूलो।"

ऐसे उपदेश के सिवाय भगवान ऋषभदेवके उपदेश में जीव, अजीव आदि सब पदार्थो का, लोक; अलोकका, समयपरिवर्तनेका, गृहस्थ-आचरण तथा साधु चर्याका, कर्मसिद्धान्त, स्याद्वाद अदि का स्वरूप भी पूर्णरूप से बतलाया गया उनका उपदेश सुनकर सबजीवोंको यथार्थ श्रद्धा, ज्ञान और शान्तिप्राप्त हुई और-उन्होंने अपनी अपनी शक्तिके अनुसार व्रत नियम लिये। घाती कर्म, कषाय आदि आत्मा के शत्रुओंको जीतलेनेके कारण भगवान ऋषभदेवको 'जिन' कहते थे। इसकारण उनके बतलाये गये धर्म मार्गका नाम "जैन धर्म" (जयति इति जिनः, जिनो देवता यस्य असौ जैनः) प्रसिद्ध हुआ।

भरत बाहुबली

उधर उनके बडे पुत्र भरतने अपनी सेना को साथ लेकर समस्त राजाओंको जीतकर दिग्विजय (समस्त भरत क्षेत्रके राजाओंको जीतना) प्राप्त की। दिग्विजय करके जब वह वापिस अपने घर आया तब उसने अपने महा बलवान और स्वाभिमानी छोडे भाई बाहुबलीके पास सन्देश भेजा कि 'मुझसे आकर मिलो' स्वाभिमानी बाहुबली सम्राट भरतकी बात समझ गया कि यह मुझको भी अपने चरणोंमें झुकाना चाहता है - उसने भरतके पास उत्तर भेजा कि मैं रणभूमिमें तुम्हारे साथ मिलूंगा।

तब दोनों भाइयोंका युद्ध हुआ उस युद्धमें सम्राट भरत अपने छोटेभाई बाहुबली से हारगये। तब इन्होंने क्रुद्ध होकर बाहुबली को मार डाल ने के लिये चक्र अस्त्र छोडा। यह चक्र अमोघ होता है परन्तु कुटुम्बियों पर व्यर्थ हो जाता है। इसलिये बाहुवलिका कुछ बिगाड न सका। परन्तु बाहुबली को यह देखकर संसार की दशा का परिज्ञान होगया। उन्हों ने सोचाकि ऐसे राज्यको भी धिक्कार है जिसके लिये भाई अपने भाई को भी नहीं देखसकता, उसका वैरी हो जाता है। ऐसा विचार कर वे राज

पाट छोडकर अपने पिता भगवान ऋषभदेवकी तरह दिगम्बर (नग्न) साधु बनगये और एक वर्ष के लिये भोजन पान छोड कर आत्म ध्यानमें निश्चल खडे हो गये। भगवान ऋषभदेव ने तो पद्मासन में बैठकर ६ मास तक योग धारण कियाथा किन्तु बाहुबली ने निश्चल खडे होकर एक वर्षका योग धारण किया। शर्दी, गर्मी, वर्षाके दिन बाहुबलीने अपने नग्न शरीर पर अडिग आसनमें बिता दिये। वे आत्मध्यानमें इतने निमग्न रहे कि बाहर उनके शरीर पर क्या कुछ बीतरही है इसका रंचमात्र भी उनको अनुभव न हुआ - उनके पैरोंके पास बिल बना कर सर्प रहनेलगे और बाहुबलीको वे पत्थरका खंभ समझकर उनके शरीर पर चढते उतरते रहे, अनेक बेलें उनके पासमें उगकर उनके शरीर पर चढ गई ऐसी कठिन तपश्चर्या बाहुबली ने की।

भरत चक्रवर्तीने आकर योगिराज बाहुबली के चरणोंमें झुककर नमस्कार किया तथा अपने अपराधकी क्षमा मांगी। उसी समय बाहुबली ने पूर्वोक्त ज्ञानावरण आदि चार घातिकर्म नष्ट करके सर्वज्ञ वीतराग पद प्राप्तकिया। कुछ समय पीछे उन्होंने शेष चार अघातीकर्मों वेदनीय, आयु, नाम और गोत्रका भी नाश करदिया और अपने पिता भगवान ऋषभदेवसे भी पहले पूर्ण मुक्त होकर इस संसारसागरसे सदाके लिये पार हो गये! इस तरह इस युगमें सबसे पहले बाहुबली ने मोक्ष प्राप्त की।

बडवानी (मध्यभारत) के समीप त्रिपुरा पर्वतपर भगवान ऋषभदेव की ८० फीट ऊंची मूर्ति बनी हुई है। बाहुबली की ५७ फीट ऊंचीबहुत सुन्दर प्रतिमा श्रवण बेलगोला (मैसूरराज्य)में विन्ध्यगिरि पहाडी पर बनी हुई है। यह विशाल मूर्ति पर्वत की शिखर छांट कर बनाई गई है और अभी बनी है इस तरह चमकती हुई काई आदिसे अछूती बिना किसी सहारे के १२०० वर्ष से खडी हुई है और आधुनिक संसार में एक आश्चर्य रूप है।

अनेक वर्ष तक विविध देशों में विहार करके समवशरण द्वारा

भगवान ऋषभनाथ जीवोंके लिये धर्म सन्देश देतेरहे। फिर अंतिम समय में वचन, कायकी क्रिया बन्द होनेसे चार अघाती कर्मों का नाश करके कैलाश पर्वत पर पूर्णमुक्त हो गये।

भगवान ऋषभदेव ने प्रचलित युगमें (अवसर्पण काल में) सबसे प्रथम धर्म उपदेश दिया उनके धर्म का आचरण कर अनेक जीव संसारसागरसे पार हो गये। इस लिये धर्म-तीर्थ के कर्ता होने के कारण उनका नाम 'तीर्थङ्कर' भी प्रसिद्ध हुआ। अग्रजिन, आदिनाथ, आदि देव आदि अनेक नामों से भगवान ऋषभदेव जगविख्यात हुए। उनके पैरोंपर बैल, का चिन्ह था इस कारण उनकी मूर्ति पर बैलका चिन्ह अंकित हुआ।

भगवान ऋषभदेव द्वारा प्रचलित धर्म मार्ग (जिसका कि नाम जैन धर्म पड़ा था) उनके शिष्य, प्रशिष्य परम्परा से चलता रहा।

अन्य तीर्थंकर

करोड़ों वर्ष पीछें भगवान अजित नाथ दूसरे तीर्थकर हुए उन्हों ने भी पहले गृहस्थ दशामें राज्य किया फिर राज पद छोड कर साधु बन गये और कुछ वर्ष तपश्चर्या करके अर्हन्त (सर्वज्ञ वीतरागी) होगये तब उन्हों ने भी भगवान ऋषभदेव के समान समवशरण सभा द्वारा विशाल धर्म प्रचार किया। अन्त में मुक्ति प्राप्त की।

इसी प्रकार लाखों करोडों वर्षों बाद क्रमसे श्री संभवनाथ, अभिनन्दन; सुमतिनाथ; पद्मप्रभ; सुपार्श्वनाथ; चन्द्रप्रभ; पुष्पदंत; शीतल नाथ; श्रेयांसनाथ तीर्थंकर हुए। उन्होंने भी अपने अपने समयमें भगवान ऋषभनाथके समान जीवन्मुक्त परमात्मापद (सर्वज्ञ वीतराग पद) पा लेनेके बाद व्यापक धर्म प्रचार किया और अन्तमें समस्त कर्म नष्ट करके मुक्ति पद पाया।

बारहवें तीर्थंकर श्री वासुपूज्य हुए उन्होंने विवाह नहीं किया और अखंड ब्रह्मचर्य धारणकर युवा अवस्थामें राजवैभव ठुकरा कर साधु हो गये। जब वे केवल ज्ञानी हो गये तब उन्होंने अन्य तीर्थंकरोंकी तरह

समस्त देशोंमें विहार करके धर्मप्रचार किया और अंतमें चम्पापुर (विहार) में मोक्ष प्राप्त की।

उनके पीछे श्री विमलनाथ; अनन्तनाथ; धर्मनाथ; शांतिनाथ; कुन्थुनाथ; अरनाथ तीर्थंकर क्रमसे हुए और अपने अपने समयमें सर्वज्ञ होकर धर्म प्रचार करके अन्तमें मुक्त हुए।

इनमेंसे श्री शांति नाथ; कुन्थुनाथ और अरहनाथ इन तीन तीर्थंकरों ने अपने अपने समयमें साधु बननेसे पहले दिग्विजयद्वारा समस्त राजाओंको जीतकर चक्रवर्ती सम्राटका पदभी प्राप्त किया।

उनके बाद १९ वें तीर्थंकर श्रीमल्लिनाथ हुए इन्होंने भी अपना विवाह न करके पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत धारण किया और वासुपूज्य तीर्थंकरके समान धर्मप्रचार करके सम्मेदशिखर (हजारीबाग) पर्वत पर मुक्ति प्राप्त की।

वीसवें तीर्थंकर श्री मुनि सुव्रतनाथ हुए इन्होंने भी अपने तीर्थकालमें अन्य तीर्थंकरोंके समान व्यापक धर्मप्रचार किया और अन्तमें पूर्ण मुक्त होगये।

इनके तीर्थकालमें राजा दशरथ; जनक; राम; लक्ष्मण; पवनंजय; हनुमान; रावण; कुम्भकर्ण; विभीषण आदि जगप्रसिद्ध वीर राजा हुए। रामको वनवास; वनवासके समय रावण द्वारा सीताहरण फिर राम रावणका महायुद्ध; रावण का मरण; राम सीता मिलन; सीताको गर्भाधान; सीताको वन छोडना; सीता की अग्निपरीक्षा आदि विश्व विख्यात घटनायें हुईं। अन्तमें रामचन्द्रको लक्ष्मणकी मृत्युके बाद संसारसे विरक्ति हुई और उन्होंने राजपाट छोडकर मुनिदीक्षा ली और तपस्या करके मुक्त हुए।

रामचन्द्रके वैराग्यका उल्लेख करते हुए वशिष्ठ ऋषिने योगवाष्शिठ ग्रंथमें निम्नलिखित श्लोक लिखा है—

नाहं रामो न मे वाञ्छा विषयेषु च न मे मनः।
शान्तिमास्थातुमिच्छामि स्वात्मन्येव जिनो यथा॥

अर्थात्—संसारसे विरक्त श्री रामचन्द्रजी कहते हैं कि—

"मैं न तो राम (रमन्ते योगिनो यस्मिन्-अर्थात् योगी जन जिसका ध्यान करें) हूं, न मेरे किसी प्रकारकी कोई अभिलाषा है, विषय भोगोंमें भी मेरा मन नहीं लगता, मैं तो अपने आत्मामें ही शान्ति प्राप्त करना चाहता हूं जिस प्रकार कि 'जिनदेव' ने की है ॥"

योगवाशिष्ठके इस श्लोकसे यह ज्ञात होता है कि जैनेतर ग्रन्थकार वशिष्ट ऋषिके मतानुसार भी रामचन्द्रजीके समयमें 'जिनदेव' आदर्श योगी माने जाते थे। जिनदेवके उस उच्च आदर्शको लक्ष्य करके रामचन्द्रजी ने उन जैसा बनने की इच्छा प्रगट की थी।

भगवान मुनिसुव्रतनाथके पीछे श्री नमिनाथ २१ वें तीर्थंकर हुए। उन्होंने भी अन्य तीर्थंकरोंके समान पहले राज्य किया फिर राज्य से विरक्त होकर साधु दीक्षा ली और तपश्चरण करके केवलज्ञान प्राप्त किया। तब समस्त देशोंमें धर्म जागृति करके मुक्त हुए।

उनके हजारों वर्ष पीछे द्वारिकाके अधिपति समुद्रविजय राजाके भवनमें भगवान नेमिनाथका जन्म हुआ, समुद्रविजय श्रीकृष्णके ताऊ (पिता के बडे भाई) थे तदनुसार नेमिनाथ तीर्थंकर, बलभद्र कृष्णके चचेरे भाई थे। नेमिनाथने अपना पराक्रम दिखलाते हुए कृष्णका पांचजन्य शंख अपनी नाकसे बजा दिया था इस पर कृष्णको अपने निष्कंटक राज्यके लिये भय (खतरा) अनुभव हुआ और इस आशंका को दूर करने के लिये कृष्णने राजपाटसे विरक्त करनेके लिये एक कार्यक्रम बनाया—

श्री नेमिनाथका विवाहसम्बन्ध जूनागढके राजा उग्रसेनकी रूपवती कन्या राजमतीसे निश्चित किया। जब बरात जूनागढ पहुंची तब भगवान नेमिनाथने एक स्थान पर एकत्र बहुत से पशुओंकी चीत्कार रूप दर्द भरी दीनवाणी सुनी। उन्होंने अपने रथवानसे इसका कारण पूछा तो उसने बतलाया कि आपकी बरातमें कुछ मांस भक्षी लोग भी आये हैं उनके भोजनके लिये इन पशुओंका मांस पकाया जायगा (यह सब कार्यक्रम श्री कृष्णने बनाया था) श्री नेमिनाथको यह सुनकर संसार से विरक्ति हो गई कि मेरे विवाहके कारण हजारों जीवोंकी निर्दय हत्या

होवे! उन्होंने उसी समय रथसे नीचे उतरकर उन घिरे हुए जीवोंको छोड दिया और अपने विवाहके चिन्ह मुकुट, कंकण, वस्त्र आदि उतार साधुदीक्षा ले ली। यह बात जब उनकी मंगेतर राजकुमारी राजमती ने सुनी तो वह भी संसारसे विरक्त होकर गिरनार पर्वतपर जाकर साध्वी बन गई।

भगवान नेमिनाथने कठिन तपस्या करके कुछ वर्ष बाद जीवन्मुक्त (सर्वज्ञ वीतराग) दशा प्राप्तकी फिर समस्त देशोंमें विहार करते हुए धर्मप्रचार किया और अन्तमें गिरनार पर्वत पर जाकर मुक्ति प्राप्त की।

भगवान नेमिनाथके हजारों वर्ष पीछे बनारसमें राजा अश्वसेनके घरमें श्री पार्श्वनाथ २३ वें तीर्थंकरका जन्म हुआ इन्होंने भी न तो अपना विवाह कराया और न राज्यही किया, यौवन अवस्था में ही आत्महित तथा लोकहितकी प्रबल भावनासे साधुदीक्षा लेकर घोर तपस्या की।

एक बार भगवान पार्श्वनाथ जब अहिच्छत्रके वनमें आत्मध्यान में बैठे हुये थे तब इनके पूर्व भवके शत्रु एक असुरने इनको आत्मध्यानसे डिगानेके लिये बहुत उपद्रव किया भगवानके ऊपर धूर पत्थर जल बरसाने लगा तब भगवानके भक्त धरणेन्द्र पद्मावती देव देवी वहां आये। धरणेन्द्रने सर्पका रूप बनाकर उनके शिर पर छत्र बनाकर उनके ऊपर धूल पानी आदि न आने दिया। धरणींद्रको भगवान की सेवामें आया देखकर वह असुर भाग गया और भगवानको केवल ज्ञान हुआ। तब उस स्थानका नाम 'अहि छत्र' यानी सर्प का छत्र प्रसिद्ध हुआ भगवान पार्श्वनाथकी मूर्ति पर इसी कारण सर्पका फण बना होता है। उपद्रव दूर हो जाने के बाद घाती कर्मोंका नाशकर भगवानने सर्वज्ञता तथा वीतरागता प्राप्त की फिर समवशरण सभा द्वारा सांसारिक जीवोंको धर्म उपदेश दिया, धर्म प्रचारके लिये आपका भी सर्वत्र विहार हुआ और अन्तमें सम्मेदशिखर पर्वतके ऊपरसे मुक्त हो गये।

यह पर्वत विहारमें हजारीबाग जिलेमें है और इस पहाड का नाम 'पारसनाथ हिल' है। रेलवे स्टेशन तथा पोष्ट आफिस का नाम भी

पारसनाथ है। भगवान पार्श्वनाथके पैरमें सर्पका चिन्ह था अतः भगवान पार्श्वनाथकी प्रतिमापर सर्पका चिन्ह अंकित होता है।

भगवान पार्श्वनाथके मुक्ति हो जानेके २५० वर्ष पीछे तथा अबसे २५५५ वर्ष पहले कुण्डलपुरके राजा सिद्धार्थके राजभवन में भगवान महावीर का जन्म हुआ। ये अन्तिम (२४ वें) तीर्थंकर थे। इनके पिता नाथवंशी क्षत्रिय थे (बौद्धग्रन्थोंमें 'नाथपुत्र महावीर' यानी नाथ पुत्र महावीर' शब्दसे भगवान महावीर का स्थान स्थान पर उल्लेख है) इनकी माता त्रिशलादेवी वैशाली नरेश राजा चेटककी पुत्री थी। राजा चेटक उस समयके प्रसिद्ध राजा थे। भगवान महावीरका जन्म चैत्र शुक्ल त्रयोदशी के दिन हुआ इस दिनके स्मरण में प्रतिवर्ष चैत्र शुक्ल त्रयोदशीको महावीर जयन्ती का उत्सव मनाया जाता है।

भगवान महावीरने भी अपना यौवनकाल विषय वासनाओंमें खोना उचित न समझा अतः अनेक राजकुमारियोंसे विवाहका प्रस्ताव आने परभी उन्होंने अपने आपको विवाह बन्धनसे स्वतन्त्र रखा-भगवान पार्श्वनाथके समान अखंड ब्रह्मचारी रहे। तदनन्तर ३० वर्षकी आयुमें उन्होंने राज परिकर त्यागकर साधु जीवन स्वीकार किया। बारह वर्ष तक कठिन तपस्या करके कैवल्य पद पाया। तब सर्वज्ञदशा में उनका धर्म उपदेश प्रारम्भ हुआ। भारतवर्षमें उस समय वैदिक पशुयज्ञका बहुत प्रचार था। अनेक मांसलोलुपी ब्राह्मण विद्वानोंने यज्ञोंमें घोडा गाय आदि पशुओंका हवन करके धर्मप्रधान भारतदेशको धर्मके नाम पर हिंसक बना दिया था।

जब भगवान महावीरका धर्म उपदेश प्रारम्भ हुआ तब वह हिंसामय पशुयज्ञ होने बन्द हो गये। जनता धर्मका स्वरूप समझ गई और फिर उसने यज्ञमें पशुवध को सदाके लिये त्याग दिया। भगवान महावीरकोअहिंसाके व्रतका इस तत्परताके साथ प्रचार हुआ कि आजतक फिर वैसे पशुयज्ञ प्रचलित न हो सके।

महात्मा बुद्ध भी भगवान महावीरके समकालीन अहिंसाप्रचारक

हुए हैं किन्तु महात्मा बुद्धने अपनी शिष्य संख्या बढानेके विचारसे अपने अनुयायियोंको मांसभक्षणकी कुछ नियमोंके अधीन ("त्रिकोटि शुद्ध मांस खानेमें हानि नहीं' इस ढंगसे) छूट दे दी किन्तु भगवान महावीर ने अपने धार्मिक प्रचारको दूषित न होने दिया। उसका परिणाम यह हुआ कि महात्मा बुद्धके अनुयायी तो संख्यामें बहुत हो गये किन्तु वे अहिंसाका नाम लेकर भी मांस भक्षण करते रहे; बौद्ध साधु भी भिक्षा में मिले हुए मांसको ग्रहण करते रहे और अब तक बौद्धोंमें वही परिपाटी चली आ रही है।

परन्तु भगवान महावीर के किसी भी अनुयायी गृहस्थ अथवा साधु ने मांसको अभक्ष्य समझकर भक्षण नहीं किया जैनोंमें वही परिपाटी अभी तक चली आ रही है। अहिंसा व्रतको ऐसी कडाईके साथ पालन करनेके कारण भगवान महावीरके अनुयायियोंकी संख्या बौद्धोंकी तरह अधिक न हो पाई।

भगवान महावीरका तीस वर्ष तक अनेक देशोंमें विहार हुआ धर्म का सन्देश सब तक पहुंचाया। अन्तमें पावापुरी (विहार) के तालावके स्थान पर कार्तिक वदी चौदसकी रात्रिके अंत और अमावस्या के ऊषा प्रातः समय भौतिक शरीर त्यागकर मोक्ष प्राप्त की।

भगवान महावीरका उपदेश

भगवान महावीरके उपदेशमें जनता से समझा कर यह कहा गया कि "जिस तरह एक छोटे बालक वृद्ध मनुष्यमें एक समान आत्मा है; उन दोनोंमें सुख दुखका अनुभव एक सरीखा होता है, छोटा बच्चा यदि अपने मुखसे कुछ न कह सके तो यों न समझो कि उसको दुखकी वेदना होती ही नहीं इसी प्रकार छोटे बडे पशु पक्षी; कीडे मकोडे आदि जन्तुओं में भी आत्मा है तुम्हारी तरह उनको भी सुख दुखका अनुभव होता है; वे अपनी भाषामें अपनी वेदना तुमको सुनाते हैं; तुम समझदार हो उनके दुख पीडा और पुकार को समझो; सुनो और जिस तरह अपने बच्चेकी वेदनाको दूर करते हो उसी तरह उन पशु पक्षियोंकी पीडा दूर करना भी तुम्हारा कर्तव्य है।

यदि तुमको स्वर्गका सुन्दर सुख देनेके बदलेमें तुमसे तुम्हारे प्राणों को कोई दुष्ट लेना चाहे तो तुम उसको तुरन्त मना कर दोगे इसी तरह ये दीन असहाय पशु पक्षी भी अपने जीवनके बदलेमें संसारका कोई भी सुख और विभूति नहीं चाहते तुम इनको क्यों बलात् (जबरदस्ती) अग्निमें हवन कर देते हो।

यदि अग्निमें हवन करनेसे ही स्वर्ग या साम्राज्य सुख मिलता हो तो तुम अपने परिवारके स्त्रीं; पुरुषों; बच्चों; वृद्धोंको अग्निमें हवन करके अपना और अपने परिवारका कल्याण क्यों नहीं करते ?

तुमको सुई चुभते ही कितना कष्ट होता है तब उन घोडा, बकरा, गाय आदि पशुओंके कष्ट का भी विचार करो जिनको तुम छुरी तलवार भाले को नोंकसे छेद कर, उनको तडपा कर मारते हो और उनको अग्नि में, डालकर हवन कर देते हो।

यदि इस प्रकार तुमको या तुम्हारे बच्चों को कष्ट देकर हवन किया जावे तब धर्म होगा या नहीं ? यदि तुमको मारने में धर्म नहीं हो सकता तो दीन मूक प्राणियों को तडपाकर मारने में धर्म किस तरह हो सकता है ?

हिंसा से धर्म मानना तो ऐसा है जैसे गर्मी दूर करने के लिए आगसे तापना। यदि दूसरे को मारने, काटने, दुख पहुंचाने में ही धर्म होता है तो बतालओ फिर पाप किस काम के करने में होगा !

यदि तुमने पशु पक्षियों से अधिक बल पाया है तो तुम्हारा कर्तव्य है कि तुम उनकी रक्षा करो, उनके दुख दूर करो। बल पाने का तो सबसे अच्छा तरीका यही है।

दीन दुखी प्राणी की गरम आह बडे बडे राज्यों को बडी बडी शक्तियों को नष्ट भ्रष्ट करडालती है फिर तुम दीन मूक प्राणियों की गरम आह क्योंलेते हो इनकी गरम आह तुम्हारे सुखी शान्त जीवन को नष्ट भ्रष्ट कर देगी। इस कारण कुछ सोचो, समझो। यदि तुम सुखी होना चाहते हो तो सबको सुख पहुंचाओ, दुःख किसी को भी न दो। "

भगवान महावीर के ऐसे सरल, प्रभावशाली उपदेश को जनता ने

बडी उत्सुकताके साथ सुना उनके उस उपदेश में स्व-पर कल्याण नामका मनोहर पाठ था जिससे जनताके हृदयका सूखा हुआ दयाका स्रोत फिर खुलगया। परणाम यह हुआ कि जनता का हृदय पशुओंको भी अपने जैसा प्राणधारी समझने लगा, अतः उनयज्ञोंका करना जनत ने एक दम छोड दिया जिन में दीन मूकपशुओं के रक्तसे होली खेली जाती थी। इस तरह से भगवान महावीर की मधुर वाणी से असहाय मूक प्राणियों की सुरक्षा हुई।

हिन्दू शास्त्रों के कथनानुसार परमात्माने अनेक अवतार धारण कर दुष्टोंका संहार किया इस के लिये उसको वराह, परशु-राम, राम, कृष्ण आदि अवतारों को धारण करना पडा तव वह अधर्मका नाश और धर्म की रक्षा करपाया किन्तु भगवान महावीर को धर्म की रक्षा (अहिंसा का प्रचार) और अधर्म (पशुहिंसा) का विनाश करने के लिये किसी दुष्ट का संहार नहीं करना पडा। भगवान महावीर के दिव्य उपदेश से दुष्टों का हृदय बदल गया जिससे कि वे दुष्ट ता—निर्दयहिंसा छोड कर स्वयं शिष्ट—सज्जन-धर्मात्मा वन गये। यानी-साधु परित्राण और दुष्ट निग्रह के लिये भगवान महावीर को तलवार नहीं उठानी पडी।

भगवान महावीर के चरणों में सिंहका चिन्ह था अतः भगवान महावीर की प्रतिमा पर सिंहका चिन्ह अंकित होता है। भगवान महावीर के वीर, सन्मति, वर्द्धमान, अतिवीर भी नाम प्रसिद्ध थे।

भगवान महावीर के नाम पर बंगाल विहार के अनेक नगरों के नाम रक्खे गये। जैसे वर्दमान (वर्द्धमान का अपभ्रंश है); वीरभूमि; सिंहभूमि (भगवान महावीर का चरण चिन्ह सिंह था) आदि।

समस्त (२४) तीर्थंकर क्षत्रियकुलके राजघरानों में उत्पन्न हुए समय आने पर वे राजभवनों के राजसी ठाठ बाट; वैभवको छोड कर साधु बने और तब तक विलकुल मौन (चुप) रहे जव तक कि वे पूर्ण शुद्ध (वीतराग) और पूर्ण ज्ञानी (सर्वज्ञ) न हो गये। क्यों कि उपदेश में त्रुटि (भूल गलती) दो ही कारणों से होती है १ ज्ञानकी कमी से; दूसरे—राग

द्वेष; क्रोध; लोभ आदि विकृत भावों के कारण। इस लिये साधुजीवन में जब तक उनमें ये दो कमियां (त्रुटियां) रहीं तब तक उन्हों ने उपदेश नहीं दिया। उनका उपदेश इस असाधारण विशेषताके साथ होता था कि प्रत्येक मनुष्य (वह चाहे किसी भी देशका हो) और पशु पक्षी उनकी भाषा को समझ लेता था।

जन्म से ही उनके आत्मा और शरीर में शक्ति, सुन्दरता, ज्ञान आदि गुणों की अपेक्षा ऐसी अनेक विशेषताएं होती थीं जो अन्य किसी भी व्यक्ति में नहीं मिलती थीं।

महात्मा बुद्धने क्या कहा

महात्मा बुद्ध ने भगवान महावीर के विषय में निम्न लिखित वाक्य कहे—

"एकेमिदाहं महानाम समयं राजगहे विहरामि गिज्झ कूटे पव्वते। तेन खोपन समयेन संबहुला निगण्ठा इसिगिलियस्से कालसिलायं उब्भत्थका होंति आसन पटिक्खित्ता, ओपक्कमिका दुक्खातिप्पा कटुका वेदना वेदयंति। अथ खोहं महानाम सायण्ह समयं पटिसल्लाणा वुट्ठितो येन इसिगिलि पस्सय काण सिला येन ते निग्गंठा तेन उप संकमिमम् उपसंकमिता ते निगंठे एतदवोचमः। किन्हु तुम्हे आवुसो निग्गंठा उब्भट्ठका आसनपट्टिक्खित्ता, ओक्कमिका दुक्खा तिप्पा कटुका वेदना वेदियथाति एवं वुत्ते महानाम ते निग्गंठा मं एतदवोचु, निग्गंठो आवु सो नाठपुत्तो सव्वणु सव्वदस्सावी अपरिसेसं ज्ञानदस्सनं परिजानाति चरतो च तिट्ठतो च सुत्तस्स च जागरस्स च सततं समितं ज्ञानदस्सनं पक्खुपट्ठितंति, सो एवं आह अत्थि खो वो निग्गंठा पुव्वे पापं कम्मं कतं, तं इमाय कटुकाय दुक्करिकारिकाय निज्जरेथ यं पतेत्थ एतरिह कायेन संवुता, वाचाय संवुता; मनसा संवुता; तं आयतिं पापस्स कम्मस्स अकरणं; इति पुराणानं कम्मानं तपसा कंतिभावा; नवानं कम्मानं अकरणा आयतिं अनवस्सवो; आयतिं अनवस्सवा कम्मक्खयो, कम्मक्खया दुक्खक्खयो; दुक्खक्खयो

वेदनाक्खयो वेदनाक्खया सव्वं दुक्खं निज्जिण्णं भविस्सति ति च पन्न अम्हाकं रुचति चेव खमति च तेन च अम्हा अत्ति मनाति।"

—मज्झिमनिकाय १६२—६३

अर्थात—(महात्मा बुद्ध कहते हैं कि) हे महानाम! मैं एक समय राजगृहके गृद्धकूट पर्वत पर घूम रहा था। तब ऋषिगिरि के समीप कालशिला पर बहुत से निर्ग्रन्थ (जैन साधु) आसन छोड कर उपक्रम कर रहे थे और तीव्र तपस्या में लगे हुए थे। मैं सायं काल उनके पास गया और उनसे बोला 'भो निर्ग्रन्थो! तुम आसन छोड कर उपक्रम कर ऐसी कठिन तपस्या की वेदना का अनुभव क्यों कर रहे हो? जब मैंने उनसे ऐसा कहा तब वे साधु इस तरह बोले कि 'निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र भगवान महावीर सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं वे सब कुछ जानते और देखते हैं।

चलते ठहरते; सोते जगते सब हालतों में सदा उनका ज्ञान; दर्शन उपस्थित रहता है। उन्हों ने कहा है कि निर्ग्रन्थो तुमने पहले पाप कर्म किये हैं उनकी इस कठिन तपस्या से निर्जरा कर डालो। मन वचन काय को रोकनेसे पाप नहीं बंधता और तप करनेसे पुराने पाप दूर हो जाते हैं। इस तरह नये पापों के न होने से कर्मों का क्षय होता हैं; कर्मों के क्षयसे दुःखोंका क्षय होता है; दुःखोंके नाश से वेदना नष्ट होती है और वेदना के नाशसे सब दुख दूर हो जाते हैं। (तब बुद्ध कहते हैं) "यह बात मुझे अच्छी लगती है और मेरे मनको ठीक मालूम होती है।"

बौद्धशास्त्र मज्झिमनिकाय के ये वाक्य इस बात पर प्रकाश डालते हैं कि महात्मा बुद्ध भगवान महावीर के उपदेश को ठीक समझते थे भगवान महावीर की सर्वज्ञता का भी उन्हे ज्ञान था।

भगवान महावीरके पश्चात् जैनधर्म राजधर्मके रूपमें रहा

भगवान महावीरने जैनधर्मका प्रचार भारतके समस्त प्रान्तोंमें किया था तदनुसार भगवान महावीरके मुक्त हो जाने पर जैनधर्म के

अनुयायी भारतके समस्त प्रान्तोंमें विद्यमान थे। अनेक प्रसिद्ध राजा जैनधर्मानुयायी होते रहे। तदनुसार सैकडों वर्षों तक जैनधर्म राजधर्मके रूप में फलता फूलता रहा।

भगवान महावीरके समयमें वैशालीका प्रसिद्ध राजा चेटक (जो कि भगवान महावीरका नाना था) जैनधर्मका अनुयायी था, राजगृही (मगध) का राजा श्रेणिक जो कि पहले बौद्ध धर्मानुयायी था फिर चेलना रानी (राजा चेटककी पुत्री) के संबंधसे दृढ जैन धर्मानुयायी हो गया था-और भगवान महावीरका सबसे अधिक भक्त था। श्रेणिक (बिम्बसार) का पुत्र कुणिक भी बहुत समय तक जैनधर्मका अनुयायी रहा।

भगवान महावीरके मुक्त हो जाने पर मगधका शासन नंदवंशीय राजाओंके हाथोंमें रहा वे जैनधर्मानुयायी थे। उनके बाद मौर्यवंशी सम्राट चन्द्रगुप्तने मगधका राज्य संभाला। सम्राट चन्द्रगुप्तने प्रायः समस्त भारतमें अपना शासन जमा लिया था। चन्द्रगुप्त अन्तिम श्रुत केवली भद्रबाहुका शिष्य था और अपने जीवनके अंतिम दिनोंमें जैन साधु बनकर आचार्य भद्रबाहुके साथ लगातार बारह वर्षके अकाल पडनेके समय दक्षिण प्रान्तमें चला गया था और इसने भी श्रवणबेलगोलाकी चन्द्रगिरि पहाडी पर अपना शरीर त्याग किया था। इसीके नाम पर उस पहाडीका नाम 'चन्द्रगिरि' प्रसिद्ध हुआ।

चन्द्रगुप्तका पुत्र बिन्दुसार भी जैनधर्मानुयायी हुआ उसका पुत्र अशोक प्रारम्भमें (लगभग २६ वर्ष तक) जैनधर्मका उपासक रहा उसके पीछे बौद्धधर्मका अनुयायी हो गया।

अशोक का पोता राजा सम्प्रति (ई० पू० २२०) भी प्रसिद्ध जैनधर्मानुयायी राजा हुआ।

कलिंग (उडीसा) प्रान्तके शासक राजा जैनधर्मानुयायी होते रहे इसकी साक्षी राजा खारवेल द्वारा लिखाये गये हाथी गुफाके लेखसे मिलती है। राजा खारवेलसे ३०० वर्ष पूर्व उसके पूर्वज राजाको जीतकर मगधका नन्दवंशीय राजा कलिंगसे भगवान आदिनाथकी मूर्ति ले आया था। यह घटना प्रायः ईसवी सनसे पौने पांचसौ ४७५ वर्ष पहले

की है। कलिंग की राजगद्दी जब राजा खारबेलके हाथमें आई तब उसने मगध पर चढाई की और अपने पूर्वजोंकी पूज्य भगवान ऋषभदेवकी (आदिजिन) मूर्तिको मगधसे कलिंग ले आया। खारबेल बडा प्रतापी जैन सम्राट् (राजाओंका राजा) हुआ है यह बात उसके शिला लेखसे प्रगट होती है। इसने उत्तर; दक्षिण; पंजाब आदि भारतके प्रायः सभी प्रान्तोंके राजाओंको युद्धमें पराजित कर अपना राज्य समस्त भारतमें फैलाया।

दक्षिण प्रान्तमें अनेक राजघरानोंमें अनेक पीढियों तक जैनधर्मानुयायी होते रहे। गोम्मटेश्वरकी ५७ फीट ऊंची मूर्तिके निर्माता प्रसिद्ध शूर वीर सेनापति-जिनकी समरधुरन्धर; वीरमार्तण्ड त्रिभुवन वीर आदि अनेक वीरतासूचक उपाधियां थीं-चामुण्डराय जैनधर्मानुयायी हुए हैं।

वे सिद्धांतचक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्रके बडे भक्त थे। चामुण्डराय की प्रेरणा पर ही श्री नेमिचन्द्र आचार्यने गोम्मटसार आदि शास्त्रोंकी रचना की थी। चामुण्डरायने एक हाथ ऊची नीलमकी नेमिनाथ भगवानकी प्रतिमा बनवाई थी जिसका उल्लेख गोम्मटसारमें अनेक स्थानों पर आया है।

बेलगांवके किलेमें जैन मंदिर था। मैसूर नरेशके राजभवनमें जैन चैत्यालय था जो कि अभी कुछ वर्ष पहले ही हटाया गया कोल्हापुरमें प्राचीन विशाल पद्मावती मंदिर (जो कि अब हिन्दुओंके अधिकारमें है, जिसका नाम अब लक्ष्मी मंदिर है, अबतक उस मंदिर की छतमें जैन-मूर्तियां पत्थरमें उकरी हुई हैं) वहांके राजाका ही बनवाया हुआ था।

इसके सिवाय मूड बद्री आदि अनेक स्थानों पर विशाल जैनमंदिर बने हुए हैं जो कि कसौटी आदि पत्थरों के हैं. सुन्दर स्थापत्य कलाके आदर्श हैं वे वहां जैनधर्मको राजधर्मके रूपमें रहने की साक्षी देते हैं।

मान्यखेटका प्रतापी राजा अमोघवर्ष जैनधर्मका बडा भक्त था इसके राज्यमें तथा राज्यकालमें आदिपुराण उत्तर पुराण, गणितसार संग्रह आदि अनेक महान जैनशास्त्रोंका निर्माण हुआ है इसीके नाम पर शाकटायन व्याकरण पर "अमोघवृत्ति" नामक बडी टीका बनाई

गई है। राजा अमोघवर्ष आदिपुराणके रचयिता भगवज्जिनसेनाचार्य का वडा भक्त था। अमोघवर्षने अपना अन्तिम जीवन जैनसाधुके रूप में विताया। अमोघवर्षने "प्रश्नोत्तर रत्नमाला" शास्त्र बनाया।

अमोघवर्षके समान राष्ट्रकूट तथा कलचूरि वंशके अनेक राजा जैनधर्मानुयायी हुए हैं। कलचूरि वंशके राजाओंने मध्यप्रान्तमें शासन किया हं।

राजा "इल"-जिसके नाम पर "एलिचपुर" (मध्यप्रान्त) नगर बसाया गया—जैनधर्मानुयायी था जिसने कि पावागढ पर अनेक जैन-मंदिरोंका निर्माण कराया। इस जैन राजाने मुसलमान बादशाहकी फौजके साथ खूब युद्ध किया था।

ग्वालियर किला जिस पर अगणित; विशालकाय जैनमूर्तियां स्थान स्थान पर उकेरी हुई हैं तत्कालीन तोमरवंशीय राजा डूंगरसिंह (सन् १४२४) के जैनधर्मानुयायी होनेकी साक्षी देता है। उन्होंने वडी श्रद्धाके साथ विशालकाय जैन प्रतिमाओं का अपने इस किलेकी चट्टानों पर निर्माण कराया था।

गुजरातमें कुमारपाल नामक पराक्रमी राजा हुआ है जो कि जैनधर्म का वडा प्रेमी था।

राजपूतानेमें कर्माशाह; आशाशाह; इन्द्रराज चैनसिंह; पद्मसिंह भीमसी आदि अनेक जैनवीर हुए हैं जिन्होंने कि मन्त्री; सेनापति आदि के पदोंपर रहकर जैनधर्मकी सेवा तथा मेवाड; जोधपुर; बीकानेर जैसलमेर आदिकी रक्षा की है; जैनवीर भामाशाह यदि राजभक्तिमें अपना सर्वस्व महाराणा प्रताप को समर्पण न करता तो राजस्थानका मानचित्र (नकशा) ही बदल गया होता। अकबरकी विशाल सेनाके साथ महाराणा प्रताप ने हल्दीघाटीके मैदानमें जो प्रसिद्ध टक्कर ली थी उस ऐतिहासिक युद्धमें जैन योद्धाओंने मातृभूमिकी रक्षाके लिये अपना रक्त वहाया था।

चित्तौर का उन्नत जयस्तम्भ बघेरवाल जातीय सेठ साहके पुत्र जीता जैनका ही बनवाया हुआ है।

वीरकेसरी समरसिंहकी माता तथा महाराणा तेजसिंह (वि सं० १३२२) की पट्टराणी रानी जयमल्लदेवी जैनधर्मानुयायिनी थी उसने चित्तौर पर श्याम पार्श्वनाथका मंदिर बनवाया था। (राजपूतानेका इतिहास पृष्ठ ४७३)

मुसलमानी शासनके समय १२ वीं शताब्दीमें बहराइचमें श्री श्रावस्ती नरेश सुहलदेव नामक एक शूर वीर जैनराजा हुआ जिसने अपने प्रदेश की बडो वीरता के साथ मुसलमानोंसे रक्षा की और सैयद सालार मसऊदगाजी नामक और मुसलमान सेनापतिको मार भगाया। मुसलमानों ने वहां एक मसजिद (मजार) वनवा रक्खो है जिसमें दीवालों पर हजारों घोडोंके नाल जडे हुए हैं। जो कि भविष्यकालीन मुसलमानोंको इस बातकी याद दिलानेके अभिप्रायसे जडे गये हैं कि राजा सुहलदेवने अपनी सेनाके घोडोंकी टापोंसे ठोंककर मुसलमान सैनिकोंका मानमर्दन किया था। श्रावस्तीमें इश्वाकुवंशीय सुहेलदेवका बनवाया हुआ किला और जैनमंदिर भग्न अवस्थामें है।

इसी प्रकार औरभी अनेक जैन धर्मानुयायी वीर राजा हुए हैं जिन्होंने शत्रुओंको युद्धमें परास्त भी किया और अपना तथा जैनधर्मका प्रभाव फैलाया।

जैन वीर नारियां

इतिहासके पृष्ठ उन कतिपय जैन नारियोंकी वीर गाथा भी सुनावे हैं जिन्होंने युद्धोंमें विजय प्राप्त करके अपना नाम अमर रक्खा है।

वीरादेवी

यह वीर नारी दक्षिण भारतमें हुई है इसने अपना विवाह नहीं किया था बालब्रह्मचारिणी रहकर राज्य संचालन किया।

वीरा देवीने अपने पिता; नाना तथा अपनी ६ मौसियोंके राज्योंके एक बडे प्रदेश पर गोसेग्या तथा वाटुल्ला को राजधानी बनाकर न्याय तथा वीरताके साथ निष्कण्टक राज्य किया। उस समय उसे अपने

...ी वैष्णव राजाके सेनापति वेकंटप्पके साथ बडा भारी युद्ध भी ...ा पडा। उस युद्धका संचालन स्वयं वीरादेवीने किया था और ...प्पको युद्धक्षेत्रसे मार भगाया था।

सावियव्वे

मैसूरके गंगवंशीय राजा मानसिंहके वंशमें पराक्रमी सरदार बाथि-...की पत्नी जावय्ये की कोखसे इसका जन्म हुआ था। सावियव्वेका ...वाह एक सामन्तपुत्र विद्याधरके साथ हुआ था।

विद्याधर जब सामन्त बना तब वह मानसिंहके राज्यके अंदर एक ...देशपर राज्य करने लगा। उस समय विद्याधरके एक शत्रु ने अचानक ...उसके प्रदेश पर आक्रमण कर दिया। विद्याधर उस समय आक्रमणका ...सामना करनेके लिये तैयार न था; न उस समय राजा मानसिंहसे सहा-...यता मगानेका अवसर था।

फिर भी विद्याधर तुरन्त तैयार होकर घोडे पर सवार होकर शत्रुका आक्रमण रोकनेके लिये चल दिया उसके साथ उसकी वीरपत्नी सावि-यव्वे भी घोडे पर सवार होकर; हथियार बांध कर युद्ध क्षेत्रके लिये ...चल पडी।

बगियुरमें दोनों दलोंका घनघोर युद्ध हुआ उस युद्धमें सावि-यव्वेने बडी वीरता दिखलाई और अनेक शत्रुओंको मृत्युका अतिथि बनाकर स्वयं उस युद्धमें वीरगतिको प्राप्त हुई। उसकी उस वीरताके कारण विद्याधरके प्रदेशकी रक्षा हुई।

इसी प्रकार जक्कल; कलाल; झूसी राजपथा; जक्कमव्वे आदि अनेक जैन वीरनारियां हुई हैं जिन्होंने युद्धमें झांसीकी रानी लक्ष्मीबाई जैसा पराक्रम दिखलाया है। [देखो 'जैन वीरांगनाये' नामक पुस्तक]

प्रभावशाली जैन ऋषि

जैनधर्मकी प्रभावना करने वाले न केवल जैनराजा हुए हैं बल्कि अनेक जैन ऋषि भी ऐसे विद्वान हुए हैं जिन्होंने अपनी विद्वत्ता तथा

आत्मबलसे जैनधर्मका प्रसार किया उनमेंसे कुछ उल्लेखनीय साधुओं का विवरण यहां संक्षेपसे दिया जाता है।

१—समन्तभद्र—विक्रम संवतकी दूसरी शताब्दीमें हुए हैं ऐसा प्रतीत हुआ है कि यह एक क्षत्रिय राजपुत्र थे; बालब्रह्मचारी रहकर वे साधु बन गये थे। ये बहुत भारी विद्वान तथा तेजस्वी हुए हैं।

इन्होंने भारतवर्षके प्रत्येक प्रान्तमें घूमकर बडे बडे नगरो में पहुंचकर वहां के प्रसिद्ध जैनेतर विद्वानोंके साथ शास्त्रार्थ किये और सर्वत्र विजय प्राप्त की।

उस समय प्राय: प्रत्येक नगरमें एक ऐसा स्थान होता था जहां पर एक नगाडा रक्खा रहता तथा बाहरसे आया हुआ कोई विद्वान यदि वहांके विद्वानोंसे शास्त्रार्थ करना चाहता था तो वह उस नगाडे (भेरी) को बजा देताथा। नगाडे की आवाज सुनकर वहांके विद्वान समझ लेतेथे कि शास्त्रार्थ करनेके लिये कोई उद्भट विद्वान बाहर से आया है तब वहां पर सब विद्वान एकत्र होकर बाहरसे आये हुए विद्वानके साथ शास्त्रार्थ करते थे यदि वह आगन्तुक विद्वान हार जाता था तो उसको अपमानित करके अपद्वार (नगरके छोटे दरवाजे) से बाहर निकाल देते थे। यदि वह विद्वान उस नगरके विद्वानोंको वादविवादमें जीत लेताथा तो वे सब विद्वान उस आगन्तुक विद्वान को नमस्कार करते थे।

श्री समन्तभद्र आचार्यने जहां जहां शास्त्रार्थ करके विजय प्राप्त की उसके विषयमें उन्होंने निम्न लिखित श्लोकमें कुछ विवरण दिया है।

> पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता,
> पश्चान्मालवसिन्धुठक्कविषये कांचीपुरे वैदिशे।
> प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं
> वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितम ॥

यानी करहाटक (कनाडा) नगरके राजाके सामने श्री समन्तभद्र

आचार्यने कहा कि मैंने पहले पटना (विहार) नगरमें शास्त्रार्थ करने के लिये नगाडा बजाया फिर मालवा, सिन्ध, ढाका (बंगाल), काञ्चीपुर वैदिश में जाकर नगाडा बजाकर शास्त्रार्थ किये और अब महान विद्वानोंसे भरे हुए इस करहाट नगरमें आया हूं। हे भूपति! मैं सिंह के समान निर्भय शास्त्रार्थ करने के लिये सर्वत्र घूम रहाहूं।

ये वडे भारी तार्किक विद्वान थे इन्होंने गन्धहस्तिमहाभाष्य, आप्तमीमांसा आदि अनेक ग्रन्थ बनाये। इनकी विद्वत्ता के विषयमें

नमः समन्तभद्राय महते कविवेधसे।
यद्वचोवज्रपातेन निर्भिन्नाः कुमताद्रयः॥

आदि अनेक उल्लेख पाये जाते हैं। इससे प्रमाणित होता है कि इन्हों ने अपने समय में जैनधर्म का अच्छा प्रभाव भारतके समस्त प्रान्तों में फैलाया था श्री एम० एस० रामस्वामी आयंगर ने इनको 'सदा भाग्यशाली' स्टडीज इन साउथ इंडियन जैनिज्ममें ६२वें पृष्ठपर कहा है।

श्री समन्तभद्र आचार्यके विषयमें श्री एम० एस० रामस्वामी आयंगरने अपनी ऐतिहासिक पुस्तक 'स्टडीज इन साउथ इण्डियन जैनिज्म' पुस्तक में लिखा है जिसका हिंदी अनुवाद यह है कि—

यह बात स्पष्ट है कि वह (श्रीसमन्तभद्राचार्य) एक बहुत बडे जैनधर्म के प्रचारक थे उन्होंने जैनसिद्धांतों तथा जैनसंस्कृतिका दूर तक फैलानेका उद्योग किया और वे जहां कहीं भी पहुंचे उनके सामने कोई भी अन्यधर्मानुयायी विरोधी नहीं आया!

मिस्टर एडवर्ड पी० राइस सा० ने हिस्ट्री आफ कनडीअलिटयरेचर में जो लिखा है उसका हिन्दी अनुवाद—

समन्तभद्राचार्य एक तेजस्वी वादी (शास्त्रार्थ करनेवाले) और भारत में जैनधर्मके महान प्रचारक थे। चीनी विद्वान फाहियान ने अपनी ऐतिहासिक पुस्तक में प्रगट किया है कि उनदिनों में यह एक रीति थी कि नगर के एक सार्वजनिक स्थान में एक नगाडा रक्खा रहता था जब कोई विद्वान अपने मतको प्रचारित करना चाहता था अपनी

विद्वत्ता प्रगट करना चाहता था अथवा शास्त्रार्थ करना चाहता था तब वह उस नगाडे को बजाता था यह शास्त्रार्थ के लिये ललकारने की रीति थी .... श्रीसमन्तभद्राचार्य ने इस प्रचलित रीतिका पूरा लाभ उठाया था और वे जैनधर्म के स्याद्वाद सिद्धान्त को पुष्ट करने में अच्छी शक्तिके साथ समर्थ हुए थे।

२— अकलंक देव—ये सातवीं शताब्दी के महानतार्किक विद्वान थे इन्होंने बौद्ध विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ करके अपने समय में जैनधर्मका प्रभाव फैलाया था तथा तत्त्वार्थराजवार्तिक अष्टशती; प्रमाणसंग्रह आदि ग्रन्थोंकी रचना की है।

३—विद्यानन्दि—ये एक प्रकाण्ड वैदिक विद्वान थे; तथा न्यायशास्त्रके महान ज्ञाता थे। श्री समन्तभद्राचार्यके देवागम स्तोत्रको सुनकर जैनधर्मकी ओर आकर्षित हुए और जैनधर्मके पक्के श्रद्धालु बनकर इन्होंने आप्तपरीक्षा, श्लोक वार्तिक; अष्टसहस्री जैसे उच्चकोटि के ग्रन्थोंकी रचना की।

श्री लोहाचार्य

ये एक वार वहुत बीमार हो गये उस समय इनको अपना मरण समय समीप आया जान पडा अतः इन्होंने अपने गुरुसे समाधि मरण (अन्त समय तक आहार पान छोड कर धर्म ध्यान करने का नियम) ले लिया। तदनुसार भोजन पानी छोड दिया किन्तु उपवासों के करने से इनका रोग शांत हो गया और ये निरोगी हो गये। तब इनको आहार करना अपने लिये आवश्यक दिखा परन्तु जीवन भर भोजन न करने की प्रतिज्ञा ले चुके थे। अतः गुरुजी के पास अपनी परिस्थिति बतलाई।

इनके गुरुने असाधारण परिस्थिति भांपकर भोजन करने की अनुमति दे दी किन्तु विवश (लाचार) होकर प्रतिज्ञा भंग करनेके प्रायश्चित में सवालाख व्यक्तियों को जैन धर्म के उपदेश से प्रभावित करके जैनधर्म में दीक्षित करने का आदेश दीया तब इन्होंने अपने प्रभावशाली उपदेश से सवालाख अगरवालों को जैन धर्म की श्रद्धा कराकर उनको जैन बनाया।

श्री जिनसेनाचार्य

इन्होंने राजस्थान के खंडेला नगर तथा आसपास के क्षत्रियों को संबोधित करके जैन बनाया और उस समुदाय का नाम खंडेलानगर के कारण खंडेलवाल रक्खा, काशली वाकली अजमेर, दोसा आदि ग्राम तथा नगर के निवासी होने परसे उन क्षत्रियोंके काशलीवाल वाकलीवाल, अजमेरा, दोसा आदि गोत्र नियुक्त किये।

रत्नप्रभ सूरी

ये श्वेतांबर जैन साधु थे इन्होंने ओसियां (जोधपुर) के राजपूतों को १२ वी शताब्दि में जैनधर्म में दीक्षित कराकर उनकी "ओसवाल" जाति स्थापित की।

इसी प्रकार सिद्धसेन आदि अनेक प्रभावशाली जैन साधु हुए हैं जिन्होंने अपने आत्मबल तथा प्रखरविद्या बलसे श्रीमहावीरभगवान के पीछे भी जैन धर्म को विस्तृत किया।

जैन आचार्यों ने व्याकरण (शाकटायन, जैनेन्द्र कातन्त्र, हैम आदि) न्याय, साहित्य, ज्योतिष, वैद्यक सिद्धांत आदि समस्त विषयों पर अनेक उच्चकोटिके शास्त्रों को संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, कर्नाटक आदि भाषाओंमें रचना की है। यदि संस्कृत साहित्य में से जैन साहित्य को निकाल लिया जावे तो संस्कृत साहित्य अधूरा निष्प्रभ रह जाता है।

श्री पद्मनन्दि (कुन्दकुन्दाचार्य)

श्री पद्मनन्दि जिनका प्रख्यात नाम श्री कुंदकुंदाचार्य है विक्रमकी दूसरी शताब्दी के एक आध्यात्मिक आचार्य हुवे हैं। इन्होंने अनेक आध्यात्मिक शास्त्रोंकी रचना की है। उनमें से समयसार शास्त्र प्रमुख है। समयसारकी समानता रखने वाला अन्य कोई आध्यात्मिक शास्त्र नहीं मिलता।

सैद्धांतिक शास्त्रोंकी रचना करनेवाले श्री पुष्पदंत भूतवलि, गुणधर, वीरसेन आदि अनेक जैन आचार्य हुए हैं।

भगवान ऋषभदेव की ऐतिहासिकता

भगवान ऋषभनाथ इस काल चक्र में जैनधर्म के संस्थापक या आद्य प्रचारक हुए हैं इस बात की साक्षी जैन ग्रन्थोंके सिवाय जैनेतर ग्रंथ भी देते हैं। वेदोंके अनेक मन्त्रोंमें उनका आदर के साथ नामोल्लेख मिलता है। देखिये ऋग्वेद अध्याय ८ मन्त्र ६ सू० २४

ऋषभं या समग्रानां सपत्नानां विषासहिम् ।
हन्तारं शत्रूणां कृधि विराजं गोपतिं गवाम् ॥

इसी प्रकार के और भी अनेक वेद मन्त्र पाये जाते हैं।
हिंदू शास्त्रोंमें भगवान ऋषभदेवको ईश्वर के चोवीस अवतारों में से छठा अवतार माना गया है। भागवत शास्त्र में भगवान ऋषभदेव का इतिहास और कुछ उनकी जीवन-चर्या बतलाई है। हिन्दू शास्त्र यह भी स्पष्ट कहते हैं कि '**भगवान ऋषभदेवने जैनधर्मको प्रचलित कीया**'

हिंदू शास्त्रों में शुकदेवजी का नाम बडे सम्मान के साथ लिया जाता है वे एक अखंड ब्रह्मचारी परमयोगी थे। उन्होंने ईश्वर के २४ अवतारों में से केवल ऋषभ-अवतार को ही नमस्कार किया है। अन्य किसी अवतारोंको नहीं किया।

उनसे जब यह बात पूछी गई कि आपने राम, कृष्ण आदि अन्य अवतारों को नमस्कार क्यों नहीं किया? तो उन्होंने बहुत सुन्दर निम्न लिखित उत्तर दिया (देखिये व्यंकटेश्वर प्रेस बम्बई से प्रकाशित पं. शालिग्राम कृत भाषाटीका-भागवत)—

भगवान ने अनेक अवतार धारण किये परंतु जैसा संसारके मनुष्य कार्य करते हैं वैसाही भगवान ने किया। परन्तु ऋषभदेवने जगतको मोक्षमार्ग दिखलाया और अपने आप भी मोक्षमें जानेके कर्म किये। इसलिये शुकदेवने ऋषभदेवको नमस्कार किया। भागवत पृष्ठ ३७२

भागवत पुराण दूसरे स्कंध के सातवे अध्याय के १० वे श्लोक और पं. ज्वालाप्रशाद जी मिश्र कृत भाषा को देखिये—

नाभेरसौ ऋषभ आस सुदेवसूनु—
यो वै चचार समदृग् जडयोगचर्याम् ।
यत्पारहंस्यमृषयः पदमामनन्ति—
स्वस्थः प्रशान्तकरणः परिमुक्तसंगः ॥१०॥

अर्थ— ईश्वर अग्नींद्र के पुत्र नाभी से सुदेव पुत्र ऋषभदेवजी भये समदृष्टा जडका नाई योगाभ्यास करते भये जिनके परम हंस पदको ऋषियों ने नमस्कार कीनी स्वस्थ शांत इन्द्रिय सब संग त्यागे ऋषभदेव भये । जिनसे जैन मत प्रगट भयो ।

भागवतकी भाषा टीका करते हुए पं. शालिग्रामजीने भागवत के द्वितीय स्कंध सातवे अध्याय के सातवें पृष्ठपर लिखा है कि—

ऋषभदेवजी भये जिनसे जैन मत प्रगट भयो ।

खंडगिरी उदयगिरी (उडीसा) की हाथी गुफापर जो खारवेल राजाका लेख खुदा हुआ है उसमें इस बातका उल्लेख है कि ईसवी सन से लगभग ४५० वर्ष पूर्व (आजसे करीब २४०० वर्ष पहले) मगध के सम्राट नन्द ने कलिंग (उडिसा) पर चढाई की थी और कलिंग नरेश को हराकर कलिंग नरेश द्वारा पूजित भगवान ऋषभदेव की मूर्ती (अग्रजिन-मूर्ती) को वह मगध में ले आया था। तीनसौ वर्ष पीछे जब कलिंग(उडीसा) प्रांत के सिंहासनपर प्रख्यात वीर खारवेल बैठा तब उसने भारत दक्षिण उत्तर पश्चिम के दूर दूर वर्ती प्रांतों को जीत लेने के बाद अपने पडौसी प्रांत मगध पर चढाई की और मगध राजा को हराकर वहां से वही 'अग्रजिन' भगवान ऋषभदेवकी मूर्ती अपने देश में वापिस ले आया।

इस शिलालेख से यह सिद्ध होता है कि भगवान ऋषभदेवकी पूज्यता भगवान महावीर के समय में भी प्रचलित थी ।

मुहनजोदारो (सिंध) की खुदाई में पृथ्वी के नीचेसे जो साढे पांच हजार वर्ष पूर्वके बने हुए मकान निकले हैं उनमें अन्य वस्तुओंके साथ कुछ मोहरे भी निकली हैं उन मोहोरों में से प्लेट नं० २ की नं० ३ ४-५ मोहरों पर भगवान ऋषभदेवकी नग्नखडे आकारमें मूर्ती बनी हुई है, मोहोर के दूसरी ओर भगवान ऋषभदेवका चरण चिन्ह बैल बना हुआ है।

इससे यह सिद्ध होता है कि भगवान ऋषभदेव एक ऐतिहासिक पूज्य परमात्मा हुए हैं और उनकी मान्यता आजसे लगभग साडेपांच हजार वर्ष पहले भी थी।

इन ऐतिहासिक मुहरों (सीलों) का अच्छी तरह अध्ययन करके रायबहादुर प्रो० रामप्रसादजी चन्दा ने जो अपना अभिमत अगस्त १९३२ के माडर्न रिव्यु में प्रगट कीया है उसे पढिये —हिंदी अर्थ।

ईस्वी की दूसरी शताब्दी की मथुरा वाली ऋषभदेवकी खड्गासन मूर्ती जो कि चार मूर्तीयों के समान है यहां दिये देते हैं। मिश्र(इजिप्सियन) की भी प्राचीन मूर्तियां है, जिनके दोनों हाथ लटक रहे हैं। ईजिप्तियन की ये प्राचीन मूर्तियां और ग्रीक की मूर्तियां एक सरीखी हैं। किंतु इनमें वैराग्य की दृष्टिका जो कि मुहजोदारो और मथुरा की जैन मूर्तियों में पाई जाती है, अभाव है। ऋषभ शब्दका अर्थ बैल है ओर बैल ऋषभनाथ का चिन्ह है। प्लेट नम्बर २ की तीन से पांच नम्बरतक (३-४-५)की सीलोंपर खडी हुई मूर्तियां जो कि बैल सहित हैं, **भगवान ऋषभदेवकी नकल है।**

इसी बात को पुष्ट करते हुए आपने अगस्त १९३२ के उसी माडर्न रिव्यू में लिखा है।

हिंदी अर्थ—कायोत्सर्ग आसन खास तोर से 'जैनोका' है, यह बैठे हुए का आसन नहीं है खडे हूए का है आदि पुराण अध्याय १८ में ऋषभ या वृषभ के सम्बन्ध में इसका उल्लेख है।

प्रोफेसर रामप्रशादजी चन्दा के अन्वेपणात्मक अध्ययनके अनुसार प्लेट नं० २ की तीसरी चौथी पांचवी सील पर भगवान ऋपभ नाथ की खडगासन मूर्ति अंकित है। यह मूर्ति ठीक उसी रूपमें अंकित है जैसे कि भगवज्जिनसेनाचार्यने आदिपुराण के १८ वे अध्याय में भगवान ऋपभ देवकी ध्यानावस्थाका उल्लेख किया है।

गुरुकुल कांगडी के स्नातक और हिन्दू विश्वविद्यालय बनारस में इतिहासके प्रोफेसर श्रीमान् डाक्टर प्राणनाथ विद्यालंकार ने मुहंजोदारो से प्राप्त साढे पांच हजार वर्ष पुरानी इन सीलों के विपय में अपनी निम्न लिखित सम्मति प्रगट की है।

प्लेटोंपर जो नाम और चिन्ह मोजूद हैं उनसे सिंध प्रांत की जनता के साथ हिंदुओं और जैनोंके प्राचीन धर्म का सम्बन्ध प्रगट होता है।—यह वात भी ध्यान देने योग्य है कि मुहुंजोदारोको ४४९ वीं सील पर जो शब्द अंकित है वह मेरी रायमें जिनेश्वर या जिनेश है।

श्रीमान् डा० प्राणनाथ जी विद्यालंकार की सम्मति के अनुसार साडे पांच हजार वर्ष पुरानी मुहनजोदारो की ४४९ वीं सील पर जिनेश्वर या 'जिनेश' शब्द लिखाहुआ है। इसका स्पष्ट मतलब यह है कि इतिहास की उपलब्ध प्राचीनतम सामग्री जैनधर्म की प्राचीनताका समर्थन करती है क्यों कि जैनधर्मके उपास्य देव को जिनेश्वर—जिनेश कहते हैं यह जगप्रसिद्ध है।

वेदों में अन्य तीर्थंकरोंके मन्त्र।

इस समय उपलब्ध पुस्तकों में वेदोंको सबसे प्राचीन माना जाता है संसारके उपलब्ध साहित्यमें वेदोंका सन्मान मुख्यतः इस प्राचीनताके कारण विशेप है। उन वेदोंमें भी जैन तीर्थंकर भगवान ऋपभदेव, अरिष्ट नेमिका उल्लेख मिलता है। देखिये—

स्वस्ति नः इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्योऽरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु।

यजुर्वेद अध्याय २५ मन्त्र १६

ऋषभमसमानानां सपत्नानां विषासहिम्।
हन्तारं शत्रूणां कृधि विराजं गोपतिं गवाम्॥

ऋग्वेद अ० ८ मं० ८ सूक्त २४

इत्यादि अनेक मन्त्र

इस विषयकी पुष्टिमें विश्वविख्यात विद्वानका अभिमत देखिये

अन्तर्राष्ट्रीय प्रख्यात दार्शनिक विद्वान, ओक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी के भूतपूर्व दार्शनिक प्रोफेसर, हिन्दू यूनिवर्सिटी बनारसके भूतपूर्व वाइस-चान्सलर, रूसमें भारतके राजदूत तथा इस समय भारतके उपराष्ट्र पति डाक्टर सर राधाकृष्णन् ने अच्छे अनुसंधान के पीछे अपनी इण्डियन फिलासफी की पहली जिल्द २२७ वे पृष्ठ पर लिखा है उसका हिंदी अनुवाद—

"वर्द्धमान (भगवान महावीर) अपनेको उनही सिद्धान्तोंका प्रवर्तक बतलाते थे जो पूर्ववर्ती उन तेईस महर्षियों अथवा तीर्थंकरोंकी परम्परा द्वारा जिनका इतिहास अधिकतर आख्यानों के रूपमें मिलता है, प्रकाशमें आये थे। वे किसी नये मतके इतने संस्थापक न थे जितने कि वे पूर्व प्रचलित पार्श्वनाथ के मत के सुधारक थे, पार्श्वनाथका निर्वाण ई० पू० ७७६ में होना बतलाया जाता है। जैन अनुश्रुति अनुसार जैनमत के आदि प्रवर्तक ऋषभदेव थे जो कितनी ही शताब्दियों पूर्व पैदा हुए थे; इस बातको सिद्ध करने के लिये ई०पू०की पहली शताब्दीमें प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेवकी उपासना करनेवाले मौजूद थे, पर्याप्त प्रमाण हैं। यह तो निस्सन्देह है कि जैनमत वर्द्धमान अथवा पार्श्वनाथसे भी पहले प्रचलित थ। स्वयं यजुर्वेद में ऋषभ, अजितनाथ और अरिष्ट नेमि तीर्थंकरों के नामों का उल्लेख मिलता है। भागवत पुराण भी इस बातकी पुष्टि करता है कि

ऋषभ जैनमत के आदि प्रवर्त्तक थे। इन बातोंकी सत्यता कुछ भी क्यों न हो, जैनियोंका विश्वास है कि उनका धर्म मार्ग पहले के अगणित युगोंसे ही महान उपदेष्टाओं की परम्परा द्वारा बराबर उद्घोषित होता चला आया है।"

पाठक महानुभाव इसको पढकर यह बात स्वयं अनु भव करें कि संसारमें धार्मिकप्राचीनता सिद्ध करने वाले जितने भी उपलब्ध साधन हैं वे सभी जैनधर्म के सबसे प्राचीन अस्तित्वका बहुत सुन्दर समर्थन करते हैं।

विद्वानोंका अभिमत

जैनधर्मका उदयकाल कबसे है, कितना पुरातन है? उस विषयमें कुछ प्रसिद्ध विद्वानोंका अभिमत उपस्थित करते हैं जो कि उन्होंने विभिन्न समय पर प्रगट किये हैं—

धर्मोंका ऐतिहासिक अध्ययन करने के पश्चात मेजर जनरल जे०जी० आर०फर्लांग एफ०आर०एस०ई० ने दी शार्ट स्टडीज इन साइंस आफ कम्परेटिव रिलीजन पुस्तक सन १८६७ में प्रकाशीत की है उसमें लिखा है:—उसका हिंदी अनुवाद—

जैनधर्मका प्रारम्भकाल बतलाना असम्भव है। इसप्रकार भारतवर्ष का सबसे पहला धर्म जैनधर्म ही जान पडता है।

डा० विमलचरण ला अपनी पुस्तक हिस्टारीकल ग्लीनिंगज् १६२२ में लिखते हैं—जिसका हिंदी अर्थ यों है—

वैदिक साहित्य (वेदों पुराणों) में ऋषभ, नेमि आदि (जैन तीर्थंकर) प्रसिद्ध हैं जैन लोग निर्ग्रन्थ नामसे कहे जाते हैं।

भारत प्रसिद्ध विद्वान तथा प्रख्यात देशनेता स्व० लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक जी अपने पत्र केसरी में १३-१२-१६०४ को लिखते हैं—

महावीर स्वामी जैन धर्मको पुनः प्रकाश में लाये इस बातको आज २४०० वर्ष व्यतीत. हो चुके हैं। बौद्ध धर्म की स्थापना के पहले जैन धर्म फैल रहा था यह बात विश्वास करने योग्य है। चौबीस

तीर्थंकरों में महावीर स्वामी अन्तिम तीर्थंकर थे इससे भी जैनधर्म की प्राचीनता जानी जाती है।

श्रीमान महामहोपाध्याय डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषण एम० ए०, पी एच० डी०, एफ० आई० आर० एम०, सिद्धांत महोदधि, प्रिंसिपल संस्कृत कालेज कलकत्ता अपने भाषण में कहते हैं—

जैनमत तबसे प्रचलित हुआ है जबसे संसार में सृष्टिका आरंभ हुआ है। मुझे इसमें किसी प्रकार का उज्र नहीं है कि जैनधर्म वेदान्त आदि दर्शनोंसे पूर्व का है।

श्री कन्नोमलजी एम० ए० सेशन जज जनवरी १६२० को थियासाफिस्ट में लिखते हैं कि—

जैनधर्म भारत का ऐसा प्राचीन धर्म है कि जिसकी उत्पत्ति तथा इतिहास का पता लगाना एक बहुतही दुर्लभ बात है।

श्री वरदाकांत मुख्योपाध्याय लिखते हैं—

पार्श्वनाथ जी जैन धर्मके आदि प्रचारक नहीं थे। परन्तु इसका प्रचार ऋषभ देवजी ने किया था। इसकी पुष्टिमें प्रमाणों का अभाव नहीं हैं।

श्री तुकाराम कृष्ण शर्मा लद्दू बी०ए०, पी एच०डी०, एम०ए० ऐस बी०, एम०जी० ओ० एस०, प्रोफेसर शिलालेख आदि कीन्स कालेज वनारस अपने भाषण में कहते हैं कि—

सबसे पहले इस भारतवर्षमें ऋषभदेवजी नामक महर्षि उत्पन्न हुए। वे दयावान भद्रपरिणामी पहले तीर्थंकर हुए जिन्होंने मिथ्यात्व अवस्था को देखकर सम्यग्दर्शन; सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र रूपी शास्त्रका उपदेश किया। बस यह ही जिन दर्शन इस कल्पमें हूआ। इसके पश्चात अजित नाथसे लेकर महावीर तक २३ तीर्थंकर अपने अपने समय अज्ञानी जीवों के मोह अन्धकार का नाश करते रहे।

श्री स्वा० विरूपाक्ष वडियर धर्मभूषण पण्डित वेदतीर्थ विद्यानिधि एम० ए०; प्रोफेसर संस्कृत कालेज इंदोर चित्रमय जगतमें लिखते हैं कि-

ईर्ष्या द्वेष के कारण धर्म प्रचार को रोकनेवाली विपत्तिके रहते हुए भी जैन शासन कभी पराजित न हुआ। सर्वत्र विजयी होता रहा है। अरहंत देव साक्षात परमेश्वर स्वरूप हैं। इसके प्रमाण भी आर्य ग्रंथों में पाये जाते हैं। अरहंत परमेश्वरका वर्णन वेदों में भी पाया जाता है।

जर्मनी के प्रसिद्ध संस्कृतज्ञ विद्वान डाक्टर हर्मन जेकोबी एम०ए० पी एच० डी० लिखते हैं।

जैन धर्म सर्वथा स्वतन्त्र धर्म है। मेरा विश्वास है कि वह किसीका अनुकरण नहीं है और इसलिये भारत वर्षके तत्वज्ञानका और धर्म पद्धतिका अध्ययन करने वालों के लिये वह बडे महत्व की वस्तु है।

डा० फुहरर एपिग्रे फिका इण्डिका वाल्यूम २ पृष्ठ २०६, २०७ पर लिखते हैं कि—

जैनियों के बाईसवे तीर्थंकर नेमिनाथ ऐतिहासिक पुरुष माने गये हैं भगवद्गीताके परिशिष्टमें श्रीयुत बरवे स्वीकार करते है कि नेमिनाथ श्रीकृष्ण के भाई थे।

सिद्धान्त

द्रव्य

इस विश्वमें अनन्तानन्त द्रव्य हैं इसी बात को योंभी कह सकते हैं कि अनन्तानन्त द्रव्योंका समुदाय ही विश्व कहलाता है। द्रव्य, वस्तु; पदार्थ आदि अनेक शब्दोंका वाच्यार्थ (अर्थ) प्रायः एक ही है भिन्न भिन्न शब्दोंके कारण कुछ थोडा सा अन्तर है।

प्रत्येक वस्तु में दो प्रकारके अंश होते हैं १-स्थायी (सदा स्थिर रहने वाले-कभी भी नष्ट न होने वाले),२-अस्थायी (प्रतिक्षण बदलते रहनेवाले) इनमें से स्थायी अंश को गुण और अस्थायी अंशको पर्याय कहते हैं। जैसे जीवन्धर में ज्ञान है वह ज्ञान उसमें सदासे (अनादि समयसे) था इससमय है और सदा (अनन्तकालतक) उसमें रहेगा वह बच्चा था तब भी उसमें ज्ञान था जिसके कारण वह जानता, समझता था; बडा हुआ

तब भी ज्ञान उसमें रहा और युवा, अधेड,बूढा हो गया तब भी वह ज्ञानवान था जानता; समझता था, ;सोते; जागते, उठते बैठते, खाते पीते; चलते फिरते प्रतिसमय उसमें ज्ञान था, जन्म समय अपने साथ ज्ञान लाया था, और जब इस शरीर को छोडकर अन्य किसी शरीरमें जावेगा तब भी संसार की अन्य सब वस्तुओंको यहां तककि अपने शरीर को भी यहां छोड जावेगा किन्तु ज्ञान को अपने साथ अवश्य ले जावेगा।

यानी—ज्ञान के विना जीवन्धर कुछ चीज न रहेगा और जीवन्धर के विना उसमें पाये जानेवाला ज्ञान कुछ भी वस्तु न ठहरेगा। सारांश यह है कि जीवन्धर में ज्ञान एक गुण है जिसके कारण वह जानता है, समझता है। वह ज्ञान गुण उसमें सदा रहा है और रहेगा, अनन्तों शरीर छूटने पर भी ज्ञान उसमें एक क्षण भी न छूटेगा ।

किंतु जीवन्धर का वह ज्ञानगुण जीवन्धर में सदा एक जैसी दशामें न रहा था और न रहेगा। प्रतिक्षण उसकी दशा बदलती रही है और भविष्यमें बदलती रहेगी। बचपन में उसको थोडा ज्ञान था वह अपढ था; ज्यों ज्यों बडा होता गया उसके जानने समझने में बढवारी होती गई, उसको अनेक तरह की नई बातें मालूम होती गई; नये अनुभव (तजुर्बे) उसको होते गये वह अपने ज्ञान से कभी कुछ जानता था कभी कुछ जानता था: कभी कुछ सोचता था कभी कुछ विचारता था पढते समय उसके ज्ञान की हालत कुछ और होती थी और खाते पीते चलते फिरते खेलते कूदते सोते जागते, बीमारी के समय स्वस्थदशा में उसका ज्ञान कुछ अन्य दशा में होता था सारांश यह है कि जिस तरह घडी में सेकन्ड की सुई सदा चलती दिखती है इसी तरह जीवंधर की हालत भी हर समय बदलती रहती है न तो घडी की सुई पल भर के लिये भी ठहरती है और न जीवन्धर का ज्ञान पल भर एक सी ही दशा में रहता है। इसी पलटनेकी हालत या दशाको 'पर्याय' कहते हैं।

इस तरह जीवन्धर में सदा स्थिर रहनेवाला ज्ञान गुण और सदा पलटने वाली ज्ञान की पर्यायें (हालतें) दीख पडती हैं। जीवंधर में एक

ज्ञान ही गुण हो सो बात नहीं किंतु बल सुख आदि और भी वहुत गुण उसमें है और उन प्रत्येक गुण की पर्यायें भी हैं। इस तरह हम यह कह सकते हैं कि जीवंधर में ज्ञान आदि गुण और अनेक प्रकार जानने समझने सोचने आदि रूप पर्यायें पाई जाती हैं। या यों कहिये कि ज्ञान आदि गुण और पर्यायों का समुदाय (मजमूआ) ही जीवंधर है।

जीवंधर में जिस तरह ज्ञान आदि गुण पर्याय हैं उसीतरह अन्य उन सभी पदार्थोमें भी जो कि जीव—प्राणी कहलाते हैं—वैसेही ज्ञान आदि गुण तथा पर्याय पाये जाते हैं।

वहुत से पदार्थ ऐसे हैं जिनमें ज्ञान आदि गुण नहीं होते हैं उनमें रंग गंध (वू) आदि गुण होते हैं उनके विषय में भी वही बात है जो जीवंधर के विषय में थी। यानी सोने में जो रंग पाया जाता है वह रंग उसमें सदा से था और सदा रहेगा, सोना जब पत्थरके रूपमें था तब भी उसमें रंग था, जब पत्थरसे सोना अलग किया गया तब भी उसमें रंग रहा, अब सोने की चाहे जितनी हालतें (अनेक तरहके भूषण बनाने विगाडनेसे) बदलें उसमें रंग रहेगा और यदि सोने की भष्म बना दी जायगी तब भी उसमें रंग रहेगा और वह भष्म भी यदि किसी अन्य रूपमें (औषधिआदि) होगी तब भी रंग रहेगा इस तरह सोनेका रंग एक गुण है जो उसमें सदा रहता है किन्तु उस रंगकी हालतें बदलती रहती हैं, कभी लाल (पत्थर रूपमें) कभी पीली (सोनेके रूपमें) कभी काली (भष्मके रूपमें) हालतमें हुआ। इस तरह गुण और पर्याय उस सोनेमें भी पाये जाते हैं। इसी प्रकार रंग आदि गुण पर्याय अन्य पदार्थोंमें भी पाये जाते हैं।

इसलिये यह बात निश्चित हुई कि जिसमें गुण तथा पर्याय पाये जाते हैं वह 'द्रव्य' है। इसका अभिप्राय (मतलब) यह है कि प्रत्येक वस्तु (द्रव्य) सदा स्थिर-अविनाशी भी रहती है क्योंकि उसके गुण कभी नष्ट नहीं होते और वह अस्थिर-प्रतिक्षण बदलने वाली भी है क्योंकि उसकी

पर्याय प्रतिसमय बदलती रहती है-एक पल भर भी स्थिर नहीं रहती (एक जैसी हालत बदले यह तो हो सकता है किन्तु यह कभी नहीं हो सकता कि उसकी हालत बदले हां नहीं) सारांश यह है कि वस्तु सदा स्थिर भी रहती है-यानी उसमें पुरानी हालतका विनाश नई हालत का उत्पाद (उत्पन्न होना) भी सदा चालू रहता है।

द्रव्यके इस लक्षणको आधुनिक विज्ञान भी प्रयोगों द्वारा प्रमाणित करता है। जैन आचार्य उमास्वामी ने द्रव्यके इस लक्षणका 'सत् द्रव्य-लक्षणम्, उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्; गुणपर्ययवत् द्रव्यम्' इन तीन सूत्रों द्वारा विवेचन किया है।

इसी लक्षणके अनुसार इस जगतका प्रत्येक अंश, प्रत्येक पदार्थ प्रतिक्षण परिवर्तनशील होता हुआ भी अपनी सत्ता (हस्ती) को सदा बनाये रखता है, यानी कभी भी उसका सर्वनाश नहीं होता।

इसीका अभिप्राय यह हुआ कि न तो कोई पदार्थ सदा एकसा बना रहता है, न वह कभी सर्वथा नष्ट होता है और न कोई नया पदार्थ ही उत्पन्न होता है। जितने पदार्थ हैं उतने ही रहते हैं; संख्यामें घटते बढते नहीं हैं।

द्रव्योंके मूल दो भेद हैं--१ जीव, २ अजीव।

जीव

जिसमें ज्ञान दर्शन पाये जाते हैं-यानी जो जानता देखता है; वह जीव है। चेतन; आत्मा; प्राणी आदि नाम भी जीव के ही हैं। जीता जागता रूप चैतन्य जीवमें पाया जाता है इसलिये उसे चेतन कहते हैं और शरीरमें रहते समय श्वास (सांस लेना) आदि प्राण उसमें होते हैं इसलिये उसे प्राणी कहते हैं।

जीव एक अमूर्तिक वस्तु है; उसमें रूप (रंग) रस, गन्ध; स्पर्श (छूने में आना) नहीं पाये जाते इसलिये जीव न तो आंखोंसे दिखाई देता है; न चखने (स्वाद लेने) में आता है; न सूंघने में आता है; न सुनने में

आता है और न छूनेमें आता है। यह शरीर तो जीवका एक मकानके समान है जिसमें कुछ समयके लिये जीव रहा करता है; इस कारण जीवका मकान तो दिखाई देता है, किन्तु मकान (शरीर) में रहने वाला जीव दिखाई नहीं देता। जीव शरीर में रहता हुआ फेफड़ों की धोंकनी द्वारा नाक तथा मुखके मार्गसे सांस के द्वारा वायु शरीर के भीतर खींचता और निकालता रहता है। जब तक शरीरमें यह क्रिया होती रहती है तब तक जीव इस शरीरमें रहा आता है; जिस समय श्वास लेना बन्द हो जाता है तब ही जीव इस शरीरको छोडकर अन्य किसी मकान (शरीर) में चला जाता है।

अतः आंख नहीं देखती किन्तु आंखके द्वारा जीव देखता है, नाक नहीं सूंघती किन्तु नाकके द्वारा जीव सूंघता है; कान नहीं सुनते बल्कि कानों द्वारा जीव सुनता है; जीभ नहीं स्वाद लेती किन्तु जीभके द्वारा जीव स्वाद लेता है और स्पर्शन इन्द्रिय (त्वचा; चमडा) नहीं छूती बल्कि जीव स्पर्शन इन्द्रिय द्वारा छुआ करता है। यानी-छूना; खाना पीना; सूंघना; देखना; सुनना आदि कार्य जीव ही करता है किन्तु करता है उन स्पर्शन जीभ; नाक, आंख; कान इन्द्रियों द्वारा। जीव द्वारा छोडा हुआ निर्जीव (मुर्दा) शरीर न खाता पीता है; न सूंघता; देखता; सुनता है; जबकि उसमें आंख, नाक; कान आदि सब कुछ हैं। जीव जब तक शरीरमें रहता है तब तक वह अपनी चर्म इन्द्रिय द्वारा ठंडक गर्मीका अनुभव करता रहता है किन्तु जीवके चले जाने पर शरीर को जलती हुई अग्निमें रख देने पर उसको गर्मी अनुभव (महसूस) नहीं होती और न पृथ्वीमें गाढ देने पर दम घुटने या मिट्टीका भार भी उस शरीर को मालूम होता है।

इसी कारण जीवको न तो आग जला सकती है; न तलवार काट सकती है; न जल गला सकता है; न वायु सुखा सकती है; न उसको किसी तिजोरी में बंद किया जा सकता है और न उसको पृथ्वीमें गाडा जा सकता है। ये सब बातें तो शरीर की हो सकती हैं और हुआ करती

हैं, जब तक जीव इस शरीर में श्वास लेने योग्य रहता है जीव इसमें रहा आता है; जब तलवार आदि अस्त्र शस्त्र, अग्नि, वायु जल पृथ्वी अथवा शरीरके भीतर रहने वाला कफ आदि इसकी श्वास उच्छ्वास प्रणालीमें अनिवार्य (दूर न की जा सकने वाले) रूपसे रुकावट डाल देते हैं तब यह इस शरीर को छोड देता है। और दूसरे शरीर में चला जाता है।

जीवकी दो अवस्था १ संसार और २ मुक्त।

इस जीवकी इस तरहकी अवस्था तब ही तक रहती है जबतक इसके साथ क्रोध मान माया लोभ आदि मलिनभाव रहते हैं जिनके कारण इसके अनंत ज्ञान आदि गुण ढके रहते हैं पूर्ण विकसित नहीं होने पाते परंतु जब इस जीवको अपने रूपका ज्ञान हो जाता है कि-मेरी यह दुखित अवस्था पर पदार्थके संयोगसे है तो उस संयोगको हटानेके लिये प्रयत्न करता है। आर्तध्यान रौद्रध्यानको छोडकर धर्म्यध्यान शुक्ल-ध्यानका आराधन करता है, अनशन आदि तप करता है जिससे दुर्भाव नहीं रहने पाते। जिस तरह सोनेको तपाकर उसमें से चांदी, तांबे आदिकी मिलावट रूप अन्तरंग मैल और कालिमा आदि बाहरी मैल जब निकाल दिये जाते हैं तब वह सौटंची खालिश सोना हो जाता है; इसी तरह आत्मा ध्यान आदि तपोंसे जब अपनी शुद्धि कर लेता है तब न तो यह भौतिक; कार्माण शरीर रूप बाहरी मैल आत्माके साथ रह पाता है और न क्रोध; मान, अज्ञान आदि भीतरी मैल उसमें रह पाते हैं-यानी वह बिलकुल शुद्ध (पर संयोग से मुक्त) हो जाता है।

जिस तरह सभी निर्मल सौटंची सोने एक समान होते हैं तथा बाहरी गंध; रंग आदि रंचमात्र भी मिलावट न होने पर वर्षाके सभी जल एक समान होते हैं उसी तरह पूर्ण शुद्ध आत्मा (मुक्त जीव) भी सब एक समान ही होते हैं उनमें परस्पर कोई कमी वेशी नहीं होती।

ज्ञान, दर्शन, सुख, बल आदि गुणों पर कर्मका मैल कम अधिक चढ़ा होनेके कारण संसारी दशामें जीवोंके ज्ञान; दर्शन सुख आदिमें कमी वेशी रहती है किन्तु मुक्त दशामें कर्म मैल रंचमात्र भी न रहनेसे उन

गुणोंका पूर्ण विकाश हो जाता है इस कारण मुक्त जीवका ज्ञान पूर्ण (तीन लोक, तीन कालके समस्त पदार्थोंको) जानता है; सुखमें कोई कमी न होने कारण वे पूर्णसुखी होते हैं; बल में पूर्ण विकाश आजानेके कारण सम्पूर्ण पदार्थोंको जानते हुए भी उनमें रंचमात्र भी थकावट नहीं आने पाती। इस प्रकार वे पूर्णज्ञानी; पूर्णसुखी और पूर्ण बलवान होते हैं।

उनको सुख क्या है ?

मुक्त जीव जब कुछ खाते पीते नहीं, कहीं आते जाते नहीं; सोते नहीं; खेलते कूदते नहीं; किसी मनोरंजन के साधन (सिनेमा; नाटक आदि) का प्रयोग नहीं करते तब उनको सुख क्या होता है ? यह एक प्रश्न है जो कि साधारण जनता का हुआ करता है।

इसका उत्तर जानने से पहिले सुख दुःख का स्वरूप समझ लेना आवश्यक है।

दुखका सरल सीधा और व्यापक स्वरूप यह है कि किसी भी तरह की आकुलता (बेचैनी) का होना ही दुख है।

भूख; प्यास, रोग, शरीर की थकावट, मनकी थकावट; किसी भी तरह की इच्छा आदि बातें आकुलता उत्पन्न करती हैं जब तक उन आकुलताओं का अभाव नहीं हो पाता तबतक जीव व्याकुल (घबडाया हुआ) रहता है, आकुलताके मिट जानेपर जीव को सुख (चैन) मालूम होने लगता है।

जैसे भूख लगी, आकुलता हुई, जब कुछ खालिया तब भूखकी आकुलता कुछ देर के लिये दूर हो गई इसीको सुख मान लिया गया। काम करते करते शरीर दिल दिमाग थक गया तब आकुलता (बेचैनी) मालूम हुई उस थकावट को मिटानेके लिये दिमागको तरोताजा करने के लिये किसी बाग नदी पर घूमने चले गये तब वह थकावट दूर हो गई सुख मालूम होने लगा। शरीरमें कोई रोग होगया आकुलता बढगई औषधि लेनेसे वह रोग दूर हो गया तब सुख मालूम होने लगा।

इस तरह आकुलता का दूसरा नाम ही दुख है और आकुलता के अभाव का नाम सुख है।

तदनुसार जब कि मुक्त जीवों को भूख प्यास रोग भय आदि किसी भी तरहकी आकुलता रंचमात्रभी कभी नहीं होती तब यह बात माननी ही होगी कि उनको कोईभी किसीभी तरह की बेचैनी न रहने से पूर्ण सच्चा सुख है।

संसार अवस्थामें भी जब किसीको अधिक चिंता (फिक्र) होती है वह अपने आपको दुखी अनुभव करता है और चिंताओंमें कमी हो जानेसे सुखी समझता है किंतु जिस समय तक एक भी चिंता है उससमय तक तो उस चिंता संबंधी दुख ही है वास्तविक सुख तो समस्त चिंताओं के अभाव में है। संसार की समस्त अवस्थामें चिंताओंका अभाव नहीं होता कोई न कोई चिंता हर समय रहती है अतः संसारी जीव दुखी हैं।

संसारमें जिसको सुख माना जाता है वह तो उस तरह की कुछ आकुलताके थोडी देर तक दब जाने का नाम है। भूख लगी भोजन कर लिया ४—६ घंटे तक भूखकी वेदनासे आकुलता रुकी रही, इसीको सुख मान लिया गया। प्यास लगी, पानी पी लिया कुछ देर के लिये प्यास बुझ गई-इसीको सुख समझ लिया, ज्वर आदि किसी रोग से व्याकुलता थी औषध लेनेसे वह रोग शांत हो गया इसी को सुख मान लिया गया। इत्यादि किसी भी संसारी सुख को परख लीजिये ऐसीही दशा है। अतः ऐसा संसारी सुख भी कुछ समय रहता है उसीके पीछे फिर दुख का उदय हो जाता है, भोजन के बाद ८—१० घंटे तक टट्टी साफ न उतरी तो दुख, भूख लगी तो फिर वही भोजन की खटपट यदि भूख न लगी तो वैद्य डाक्टर की प्रतीक्षा करो भोजन थोडा या अरुचिकर मिले तो दुख। स्वादिष्ट भोजन मिला और मात्रासे कुछ अधिक खालिया तो और भी अधिक कष्ट। सारांश यह है कि हम जिसको सुख मान रहे हैं वह तो किसी एक आकुलता वेदना या इच्छा के कुछ देर शांत होने का ही दूसरा नाम है कुछ समय बाद फिर उसकी लडी प्रारंभ हो जाती है।

मुक्त जीवोंको वैसी न कोई रोग भूख प्यास आदिकी वेदना है न किसी तरह की कोई इच्छा है न उनमें किसी तरह की थकावट या क्लांति होती है, और न कोई आकुलता है, वे पूर्ण निराकुल (निश्चिंत) होते हैं और निश्चिंत भी होते हैं सदा के लिये, कुछ देर के लिये नहीं अतः उनको पूर्ण सुख होता है वह पूर्ण सुख स्वाधीन (भोजन आदि के आश्रय से नहीं) होता है और नित्य होता है—कुछ देर के लिये नहीं होता है तथा उस सुख में कुछ कमी वेशी भी नहीं होती न कोई वीचमें अन्तर (विघ्न) पडता है।

थकावट या चित्तकी वेचैनी उदासी मिटाने के लिये सिनेमा ताश फुटवाल आदि मनोरंजन के सामान जुटाये जाते हैं किंतु वे भी भोजन आदि के समान कुछ समय तकही चित्त को प्रसन्न करते हैं समय अधिक अधिक हो जाने पर उनसे भी मन ऊब जाता है।

इस तरह मुक्त जीवों के आंख, नाक; कान आदि अंग तथा भोजन पान आदि विषय-भोग न होने पर भी अचल, अनन्त अवाध नित्य, पूर्ण, अनुपम, स्वाधीन सुख होता है।

इस विषय का विशेष खुलासा आगे करेंगे।

संसार दशा

कर्मवन्ध के कारण जीवकी जो परतन्त्र दशा है वह संसार है। यह जीव अपने ही राग द्वेष मोह भावों से अपने लिये कर्मोंका वंधन तयार करता है और आपही उस कर्म चक्र के अनुसार संसार में इधर उधर भटकता फिरता है, भिन्न भिन्न योनियों में भिन्न भिन्न शरीरोंमें जन्म ग्रहण करता है मरण करता है वालक, युवा, वृद्ध होता है अनेक प्रकारके दुख उठाता है, कर्मरूपी सूत्रधार (डायरेक्टर) के संकेत अनुसार मनुष्य पशु पक्षी आदि अनेक प्रकारके शरीर धारण कर अपने स्वांग दिखलाता है।

इस संसार दशा में पडा हुआ जीव संसारी कहलाता है संसारी जीव की यह आवागमन (जन्म मरण) दशा किसी विशेष (खास)

समय से प्रचलित (चालू) नहीं हुई बल्कि सदासे (अनादि समय से) चली आरही और तबतक बनी रहती है या बनी रहेगी जबतक कि इसका कर्म बन्धन पूर्णरूपसे (बिलकुल) न कट जावे। एकबार कर्म-बन्धन से स्वतन्त्र हो जाने पर फिर कभी यह जीव परतन्त्रता में नहीं पडने पाता जिस तरह कि छिलका उतर जाने पर चांवल फिर नहीं उग सकता।

संसारी जीवके भेद

संसारी जीवोंके मूल दो भेद हैं—१-स्थावर; २-त्रस।

कुछ जीव ऐसे होते हैं जिनके केवल एक त्वचा (स्पर्शन, शरीरका आच्छादन-ढकना रूप चमडा) इन्द्रिय होती है वे जीव स्थावर कहलाते हैं। स्थावर जीव पांच प्रकारके होते हैं—१—

पृथ्वी कायिक—जिनका शरीर पार्थिव (पृथ्वी रूप) होता है। पत्थर, लोहा सोना चांदी रत्न आदि खनिज (खानसे निकलने वाले) पदार्थ २-जलकायिक-पानीके रूपसें (जलीय) जिनका शरीर होता है। पानी; वर्फ; ओस आदि। ३—अग्निकायिक-आग रूप जिनका शरीर होता है; जैसे बिजली, दीपक; अंगारा, आग आदि। ४—वायुकायिक —जो हवाके रूपमें जीव होते हैं। ५—वनस्पतिकायिक—जिन जीवोंका शरीर वनस्पतिके रूपमें हो जैसे पेड; बेल; घांस; फल, फूल आदि।

पहाड पहले पृथ्वीके बराबर होते हैं फिर बढते बढते; ऊंचे होते होते बहुत ऊंचे हो जाते हैं; खानोंमें से पत्थर आदि निकालते रहें यदि कुछ समय तक उन खानों की खुदाई छोड दी जावे तो वह खान उसी प्रकार पत्थर आदिसे फिर भर जाती है। शरीर की वढवारी उसी पदार्थ की होती है जिसमें जीव होता है। खान से अलग हो जाने पर उन पत्थर आदिकी बढवारी भी रुक जाती है। इससे यह बात प्रमाणित होती है कि खनिज पदार्थ (पत्थरका कोयला नहीं क्योंकि वह तो जले हुए पत्थरके रूपमें निर्जीव पदार्थ है) खानमें रहते हुए वे लोहा; सोना; पत्थर; मिट्टी आदि पदार्थ सजीव होते हैं अतः बढते रहते हैं किन्तु जब उनको खोदकर बाहर निकाल लिया जाता है तब वे निर्जीव हो जाते हैं।

इसी तरह जल जबतक अपने शीतल रूपमें रहता है सजीव होता है अग्निसे गर्म कर लेने पर निर्जीव हो जाता है।

अग्नि और वायुके भी इसी तरह सजीव; निर्जीव दो रूप हैं।

पेड; बेल; घास आदि जब तक हरे रहते हैं उनके शरीरमें वृद्धि होती रहती है, बीजसे अंकुर; अंकुरसे पौदा और पौदेसे पेड हो जाता है। और समय पाकर वह पेड सूख जाता है। तब निर्जीव हो जाता है। गेहूँ; जौ; चना आदिके पेडोंसे ये सब बातें मालूम हो जाती हैं।

ये स्थावर जीव अपने चार प्राणोंसे जीवित रहते हैं—स्पर्शन (त्वचा) इन्द्रिय (इसके द्वारा पेडोंको ठंडक; गर्मी आदिका ज्ञान होता है जैसे छुईमुई हाथ से छूते ही मुरझा जाती है) २—कायबल यानी-शरीर (इस शक्तिसे पेडकी जडोंसे खींचा हुआ खाद पानी पेडोंमें रस बनाया करता है); ३—श्वासोच्छ्वास-यानी-सांस लेना; ४—आयु-जीवन को स्थिर रखने वाला प्राण।

प्रसिद्धविज्ञानाचार्य डाक्टर जगदीशचन्द्र वसुने पेडोंमें अनेक प्रयोगों से जीव सिद्ध किया था और बतलाया था कि पेड सांस भी लेते हैं तथा ठंडक; गर्मीका अनुभव भी उनको होता है; काटने पर वे दुःखका अनुभव भी करते हैं; कांपते हैं।

स्थावर जीवोंके शरीरमें रस तो बना करता है जैसा कि हम गन्ने; आम नीबू अनार आदिमें देखते हैं किन्तु उस रससे उनके शरीरमें अन्य जीवोंके समान रक्त (खून) नहीं बना करता है और रक्त न बननेके कारण उन स्थावर जीवों (पेड आदि) के शरीरमें मांस; मेदा; हड्डी; चर्बी आदि धातुऐं भी नहीं बनती हैं। केवल रस (पतला या गाढा) ही उनके शरीर में होता है। डालियां; तना; जडें आदि भी रसकी जमी हुई एक दशा (पर्याय) है।

त्रस जीव

जिन जीवोंमें त्वचा (चर्म) इन्द्रियके साथ और भी इन्द्रियां (ज्ञान उत्पन्न करानेके अंग) हों वे त्रस जीव होते हैं।

त्रस जीवोंमें कुछ जीव ऐसे होते हैं जो छूकर तथा स्वाद लेकर बाहरी चीजोंको जान सकते हैं। पेड आदि स्थावर जीवोंके केवल एक त्वचा इन्द्रिय होती है उससे वे छूकर तो बाहरी वस्तुओंकी ठंडक; गर्मी आदिको तो जान लेते हैं किन्तु उन चीजोंके (स्वाद; आदिके) रसकी उनको कुछ जानकारी नहीं होती क्योंकि उनके 'रसना' (जीभ) इन्द्रिय नहीं होती है। जोंक केंचुआ कौडी शंख सीप आदि जीवोंके स्पर्शन (चमडा) और रसना (जीभ) ये दो इन्द्रियां होती हैं इस कारण वे छूकर तथा चाखकर भी पदार्थोंको जाना करते हैं। शंख कौडी सीप जब तक पानीमें संजीव होती हैं तब वे चलती फिरती हैं उनमें खून भी होता है; मर जाने पर केवल उनकी हड्डी रह जाती है। इन दो इन्द्रिय जीवोंमें जीभ होनेके कारण बोलने की शक्ति भी होती है। इस कारण इनके पूर्वोक्त (स्थावर जीवों वाले) चार प्राणोंके सिवाय व रसना इन्द्रिय; २—वचन बल (बोलने की शक्ति) ये दो प्राण और हो जाते हैं।

छोटे कीडे मकोडे आदि कुछ जीव ऐसे होते हैं जिनके स्पर्शन, रसना और नाक ये तीन इन्द्रियां होती हैं यानी-उनमें छूने; चाखने तथा सूंघने का भी ज्ञान होता है। इन तीन इन्द्रिय जीवोंमें १—स्पर्शन, २—जीभ ३—नाक; ४—शरीर; ५—वचनबल; ६—आयु और ७—श्वासोच्छ्वास ये सात प्राण होते हैं यानी इन सात बातोंसे उनका जीवन चलता है।

कुछ जीव ऐसे होते हैं जिनमें छूने; स्वाद लेने; सूंघने तथा देखने की भी शक्ति होती है यानी जिनके शरीरमें १ स्पर्शन (चर्म); २ जीभ ३ नाक और ४ आंख ये चार इन्द्रियां होती हैं। मक्खी; मच्छर; पतंगा आदि चार इन्द्रिय जीव होते हैं। इनके तीन इन्द्रियों वाले जीवोंसे एक आंख इन्द्रिय और अधिक होती है अतः इनके पूर्वोक्त सात प्राणोंमें नेत्र (आंख) और मिलाकर ८ प्राण होते हैं।

जिन जीवोंमें छूने, चाखने, सूंघने देखनेके साथ साथ सुननेकी भी शक्ति हुआ करती है-यानी जिनके स्पर्शन, रसना; घ्राण (नाक), नेत्र

(आंख) और कान ये ५ इन्द्रियां होती हैं वे पंचेन्द्रिय जीव कहे जाते हैं।

पंचेन्द्रिय जीव दो तरहके हुआ करते हैं एक तो वे जिनके मन नहीं होता जिससे कि वे सिखाने पर कुछ नहीं सीख सकते; वचन और संकेत (इशारे) नहीं समझ सकते उनको असैनी या असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव कहते हैं पानीमें रहने वाले कोई सर्प और कोई तोता असैनी होता है।

जिन पंचेन्द्रिय जीवोंमें शिक्षा, क्रिया और आलाप (बोलने का संकेत) ग्रहण करने की शक्ति होती है उनके मन होनेके कारण उनको सैनी (संज्ञी) पंचेन्द्रिय जीव कहते हैं। जैसे मनुष्य; हाथी; घोडा; कबूतर, मगर बन्दर आदि।

असैनी पंचेन्द्रिय जीवोंके पूर्वोक्त आठ प्राणोंमें कान इन्द्रिय और बढ़ जानेसे ६ प्राण होते हैं और सैनी (मनवाले) पंचेन्द्रिय जीवोंके मन और हो जाने के कारण १० प्राण (स्पर्शन; रसना; घ्राण; नेत्र; कान ये ५ इंद्रियां; कायबल; बचन बल; मन बल; आयु और श्वास-उच्छ्वास) होते हैं।

ये सभी त्रस; स्थावर जीव अपने शरीरके बराबर होते हैं। किसी जीवको यदि हाथीका शरीर मिला तो वह जीव उस शरीरमें फैलकर रहता है; यदि वही हाथी मरकर चींटी हो जावे तो वह जीव सिकुडकर चींटीके शरीरमें समाकर रहता है। यानी जीवका न तो कुछ अंश शरीर से बाहर रहता है और न शरीर में कोई अंग ऐसा खाली रहता है जिसमें जीवका अंश न हो।

कभी कभी ऐसा होता है कि जीवके कुछ अंश कुछ समयके लिये शरीरसे बाहर भी निकलते हैं जिसको 'समुद्घात' कहते हैं। जैसे कभी कभी छिपकली की पूंछ कट जाती है तो कटकर अलग जमीन पर गिरी हुई उस पूंछमें कुछ समय तक उस छिपकली के जीव-अंश रहे आते हैं जिससे वह कटा हुआ टुकडा तडफडाता रहता है।

काली देवीके भक्त लोगोंके कथन-अनुसार काली देवीके सामने बलिदानके समय बकरों का शिर काटकर धडसे अलग कर दिया जाता

है तो कभी कभी कुछ समय तक कटा हुआ शिर उधर 'मैं मैं' चिल्लाता है इधर धड छटपटाता रहता है उस समय उस बकरेके जीवअंश उस धड और शिर दोनोंमें रहते हैं।

शरीर का हाथ; पैर; अंगुली आदि किसी अंगके कट जाने पर कभी कभी उस कटे हुए अंगमें और शेष शरीरमें सुख दुखका अनुभव हुआ करता है। मुलतानमें चि० बुद्धसेन संघी की धर्मपत्नी पद्मारानी की बांह नासूरके कारण काट दी गई थी और उस कटी हुई बांह को ३-४ मील दूर नदी में डाल दिया गया था तब रात भर उस पद्मारानी को पानीमें पडी हुई अपनी बांहकी ठंडक अस्पतालमें अनुभव होती रही; पद्मारानीने रातके ४-५ बजे यह भी कहा कि एक लकडी आकर मेरी बांहसे लग गई है वह चुभ रही है। १०-११ घंटे बाद फिर उस पानी में फेंकी हुई बांहका उसको अनुभव होना बंद होगया।

इस प्रकार कुछ समयके लिये जीवके कुछ अंश जो शरीरसे बाहर भी रहते हैं उसे समुद्घात कहते हैं। पीछे वे अंश उसी शरीरमें आ जाते हैं।

चार गति

जीवकी संसार दशा चार गतियों की अपेक्षा भी जानी जा सकती है।

गति ४ हैं १--मनुष्य गति २--देवगति ३--तिर्यञ्च गति और ४--नरक गति।

जिस समय जीव मनुष्य, (पुरुष स्त्री) के शरीर में होता है उस समय उसकी मनुष्य गति होती है। मनुष्य घोर पाप करके नरक भी जा सकता है शुभ कर्म करके देव भी हो सकता है अल्प पाप करके पशु शरीर भी प्राप्त कर सकता है और अल्प शुभ कर्म करके दुबारा मनुष्य भव भी पा सकता है तथा प्रबल तपस्या करके कर्म बन्धन काट कर मुक्त भी हो सकता है। यानी मनुष्य गति वह

जंकसन स्टेशन है जहांसे समस्त गतियोंकी स्टेशनों को यात्रा ट्रेन छुटती है। इसी कारण मनुष्य भव को सबसे उत्तम माना गया है। तीर्थंकर चक्रवर्ती ऋद्धिधारक मुनि आदि ऐसे महान व्यक्ति भी मनुष्यों में होते हैं जिनकी सेवा देव भी करते हैं, यानी जो जगत पूज्य हुआ करते हैं।

जीव जिस समय देव देवीका शरीर प्राप्त करता है तब उसकी देवगति होती है। देवोंको जन्मसेही अवधि ज्ञान (बिना इन्द्रिय सहायता के मूर्तिक पदार्थों को जानने वाला) होता है उनका शरीर सुन्दर स्वस्थ होता है और मनचाहा रूप बना सकते हैं उनका जीवन सदा सुखमय होता है देव यदि पाप संचय करें तो पशुयोनीमें जन्म लेते हैं और शुभ कर्म के उदय से उनको मनुष्य शरीर मिलता है अन्य किसी (नरक देव) में देव जन्म नहीं लिया करते।

नरक में जाकर उत्पन्न होना नरक गति है। नरक दुखमय स्थान है वहां का वातावरण सब तरह से दुखदायक होता है नरकवाले जीवों का जीवन दुख भोगनेमें ही समाप्त होता है क्षणभर भी इनको शांति नहीं मिलती नरकसे निकलकर कोई जीव मनुष्य और कोई पशु योनी पाते हैं।

इन तीनों गतियोंमें सभी जीव संज्ञी (मनवाले) पंच इन्द्रिय जीव होते हैं।

उक्त तीन गतियों के सिवाय और जितने भी जीव हैं वे तिर्यंच (पशु) गतिके हैं। एकेन्द्रिय दोइन्द्रिय तीन इन्द्रिय चार इन्द्रिय तथा असैनी पंचेन्द्रिय जीव इस पशु गति में ही होते हैं अन्य किसी में नहीं होते।

सैनी पंचेन्द्रिय पशुओंमें मगर; मछली आदि कुछ जीव जलचर होते हैं प्रायः जलमें रहते हैं। तोता; कबूतर आदि आकाशमें उडने वाले जीव नभचर कहलाते हैं। गाय; घोडा; बन्दर; चूहा; सांप कुत्ता आदि जीव थलचर कहे जाते हैं।

अजीव

जो पदार्थ ज्ञान शून्य हैं; जिनमें चैतन्य (जीता जागतापन) नहीं इसी कारण जिनमें जानने देखने की शक्ति नहीं; जिनको सुख दुखका अनुभव नहीं होता; जो निर्जीव; जड हैं वे अजीव कहे जाते हैं।

अजीव पदार्थोंकी दो जातियां हैं—१ मूर्त; २—अमूर्त।

जिन पदार्थोंमें रूप (काला पीला आदि रंग); रस (खट्टा मीठा आदि स्वाद); गन्ध (सुगन्धि; दुर्गन्धि) और स्पर्श ठंडा; गर्म; कठोर; नर्म; चिकना; रूखा आदि छूत) पाये जाते हैं वे पदार्थ मूर्त होते हैं उनका सार्थक, सुन्दर नाम पुद्गल है।

जगतमें नेत्रोंसे जो कुछ दिखाई पडता है; जिह्वा जिसका स्वाद ले सकती है; नाक—जिसकी गन्ध बता सकती है कान जिसको सुन सकते हैं; यानी जो पदार्थ इन्द्रियगम्य (इन्द्रियों द्वारा जाने जा सकते) हैं वे सब मूर्त-पुद्गल हैं।

मूर्त पदार्थोंमें पूरण (भर जाने-और बाहरी अंश मिल जाने या मिला लेने) तथा गलन (गल जाने-कुछ अश झड जाने; अलग हो जाने) की क्रिया होती रहती है यानी-उनमें से कोई अंश कभी गिर जाता है; झड जाता है; टूट फूट जाता है और कभी कोई अन्य अंश मिल जाता है; जुड जाता है; इस कारण उनको 'पुद्गल' (पूर-मिलना, गल, गलना) पुद्गल कहते हैं।

पुद्गलमें स्पर्श; रस; गन्ध और रूप ये चारों गुण अवश्य होते हैं। किसी पदार्थमें कोई गुण तीव्र और कोई गुण मंद (सूक्ष्म) होता है। जैसे हवामें स्पर्श तो तीव्र है इस कारण वह ठंडे या गर्म तौरसे छूनेमें आती है; यदि वेगसे चल रही हो तो उसका धक्का भी जोरसे लगता है जिससे वडे मोटे पेड भी गिर पडते हैं; सुगन्ध; दुर्गन्ध भी हवामें सूंघी जाती है किन्तु उसमें रंग और रस गुण सूक्ष्म होते हैं अतः वह न तो नेत्रोंसे दिखाई देता है और न चखनेमें आती है। वही हवा यदि (आक्सी-जन और हाइड्रोजन वायु मिलकर) पानीके रूपमें हो जावे तो उसमें

रस भी चाखा जा सकता है और रंग भी देखा जा सकता है। पत्थर सोने; चांदी आदिमें रंग; स्पर्श तो जान पडता है, किन्तु गन्ध (बू) और रस सूक्ष्म होनेसे मालूम नहीं होते यदि उनको जलाकर; भस्म करके बदल दिया जाय तो उनका रस; गन्ध भी मालूम पड जाते हैं।

यानी-प्रत्येक पुद्गलीक पदार्थमें वह चाहे पार्थिव (पृथ्वी रूप) हो; जलीय (जलरूप) हो, आग्नेय (अग्निरूप) हो या वायु रूप हो-स्पर्श; रस; गन्ध और रंग ये चारों गुण अवश्य पाये जाते हैं।

पृथ्वी; जल; अग्नि; वायु जो चार भूत हैं वे भी पुद्गल पदार्थ ही हैं। जब जहां जैसा कारण मिलता है तब वहां उनका वैसा परिणमन हो जाता है। जैसे लकडी पार्थिव पदार्थ है आगका संयोग मिलनेसे वह पार्थिव लकडी अग्नि रूप हो जाती है; उस अग्निका कुछ अंश धुआं बनकर आकाशमें उडकर बादल बन जाता है; वह बादल ठंडक पाकर पानी या बर्फ बनकर बरसता है। इसी तरह कारण-अनुसार इन भौतिक पदार्थोंमें परिवर्तन (तब्दीली) हुआ करते हैं वे सदा एकही रूपमें नहीं रहते हैं।

पुद्गल अनेक प्रकारके होते हैं किन्तु उनके मूल दो भेद होते हैं—
१—परमाणु; २—स्कन्ध।

पुद्गलका सबसे छोटा टुकडा परमाणु कहलाता है। परमाणु वह छोटा टुकडा है जिसका और कोई टुकडा नहीं हो सकता।

दो परमाणु या दो से अधिक संख्यात; असंख्यात; अनन्त परमाणु मिलकर स्कन्ध बनते हैं। हमको जो कुछ इन्द्रियों द्वारा जानने में आते हैं वे सब स्कन्ध होते हैं, परमाणु इतना सूक्ष्म होता है कि वह न तो किसी प्रकार दिखलाई देता है, न किसी तरह पकडमें आता है।

शब्द

कुछ स्कन्ध ऐसे होते हैं जो शब्द रूप परिणत होते रहते हैं; मुखसे या किसी बाजे, घंटी आदि से जो आवाज निकलती है वह एक शब्द की लहर उत्पन्न करती है और उससे आगे आगे चारों ओर शब्द बनते चले जाते हैं। तार; टेलीफोन; बेतारका तार (वायरलैस); आकाशवाणी

रेडियो) द्वारा जो शब्द सैकडों हजारों मील दूर पहुंचा दिया जाता है उसमें भी यही बात होती है शब्द स्कन्ध शब्द रूपमें बनते चले जाते हैं; तार, टेलीफोन; बेतारका तार (वायरलैस), आकाशवाणी (रेडियो) द्वारा जो शब्द सैकडों, हजारों मील दूर पहुंचा दिया जाता है उसमें भी यही वात होती है शब्द स्कन्ध शब्द रूप लहरके रूपमें बनते चले जाते हैं; शब्द वर्गणाओं को पकडकर रिकार्डमें भर दिया जाता है उस रिकार्डसे फिर वही गाने, बोलने आदिके शब्द उसी तरहकी ध्वनि में अनेक बार सुने जा सकते हैं; जैसा कि ग्रामोफोन; बोलते चल चित्रों (टाकी सिनेमाओं) में हुआ करता है।

प्रकाश अंधकार

प्रकाश; अन्धकार; धूप, छाया भी पुद्गलकी विभिन्न पर्यायें (हालतें) हैं। सूर्य; चन्द्र; बिजली; दीपक आदिके संबन्धसे जो पुद्गल स्कन्धोंमें नेत्रोंसे दीखने योग्य परिणमन होता है वह प्रकाश है और सूर्य आदिके अभावमें जो पुद्गल स्कन्ध काले अंधकार के रूपमें बदल जाते हैं वही अंधकार है। आदि।

इस तरह शब्द भेद (टूटना; फूटना; टुकडे होना); बन्ध (किन ही वस्तुओंका परस्पर मिल कर एक हो जाना जैसे आटे रेतके कणोंमें पानी मिलने पर एक पिंड बन जाना; दूध पानीका मिल जाना आदि; सूक्ष्मता (बारीकी जो नेत्रसे दिखाई न दे सके या कठिनाईसे दीख पडे), स्थूलता (मोटापन-जो इन्द्रियों से जाना जा सके), आकार (गोल; तिकोना; चौकौना. चपटा आदि शक्ल); अन्धकार, छाया (किसी दीवाल, मकान आदि पदार्थकी आडसे प्रकाश रुककर उस पदार्थ की परछाई पडना). प्रकाश (सूर्य की धूप तथा बिजली दीपक आदिका रत्न आदिका ठंडा प्रकाश) ये सब पुद्गल द्रव्यकी भिन्न भिन्न हालतें हैं।

हमारा शरीर भी पौद्गलिक (भौतिक) है।

समस्त संसारमें व्यापक भी एक स्कन्ध है जिसको महास्कन्ध कहते

है। जब कभी उस महास्कन्ध में हलन चलन होती है तो उसका प्रभाव समस्त जगत पर पडता है।

पुद्गल पदार्थों में कुछ परिणमन (तब्दीली; रद्दोबदल) तो स्वयं कारणानुसार होता रहता है जैसे पृथ्वीके भीतर तरह तरहकी खानोंमें गन्धक, लोहा, सोना आदिका वनना, पृथ्वीके ऊपर जंगलोंमें अनेक तरहके वृक्ष उगना, नदी समुद्र आदि का पानीका धूप द्वारा भाप वनते रहना, आकाशमें भाप आदिसे बादल वनना, उन बादलोंका बरसना आदि कार्य अपने आप हुआ करते हैं। और अनेक तरहके जोड तोड करके मनुष्य भी पुद्गल पदार्थोंमें हेर फेर किया करते हैं जैसे कि घरों में; कारखानोंमें, नदी, समुद्रोंमें, आकाशमें पेड उगाना; पानी, वर्फ, बिजली आदि बनाना; वायुमें वायुयान उडाना आदि अनेक कार्य मनुष्य करते रहते हैं।

पुद्गल परमाणुओंका मिलाप किस ढंगसे किस परिस्थितिमें होता है, आपसमें बन्धे हुए वे परमाणु परस्परमें एक दूसरे पर क्या प्रभाव डालते हैं? इत्यादि बातोंका साधारण संक्षिप्त विवेचन जैन ऋषियोंने अपने ग्रन्थोंमें किया है। श्री गृद्धपिच्छाचार्य रचित तत्त्वार्थ सूत्रका पांचवां अध्याय भौतिक विज्ञानका अच्छा संक्षिप्त परिचायक है, इस शास्त्रीय विवेचनकी वैज्ञानिक व्याख्या ग्वालियर कालेजके साइंस प्रोफेसर श्री घासीरामजी एम एस सी० ने अपनी एक पुस्तकमें की है। इसके सिवाय पुद्गल तथा इस जगतके विषयमें जैसा विवेचन जैन शास्त्रोंका है वैसा ही आधुनिक विज्ञान बतलाता है। देखिये—

वैज्ञानिक विद्वान मि हैकल अपनी दी रीडल आफ दी यूनिवर्स पुस्तकके १६८ वें पृष्ठ पर लिखते हैं उसका हिंदी अर्थ यह है—

यह जगत भी अनादि और अनन्त है इसका न कभी आदि है और न अन्त। यानी अनादि अनिधन (सदा रहने वाला) है यह जगत उस द्रव्यसे भरपूर है जो निरन्तर परिणमनशील है जगतमें कहीं भी बिलकुल

निष्क्रियता (क्रिया शून्यता) नहीं है फिर भी अनन्त पुद्गल (भौतिक द्रव्य मैटर) की परिणमनशील शक्ति सदा एकसी बनी रहती है।

अमूर्त-अजीव पदार्थ

जैसे जीव एक अमूर्त पदार्थ है उसी तरह चार निर्जीव अमूर्त पदार्थ भी हैं जिनके नाम धर्म, अधर्म; आकाश और काल हैं। ये चारों द्रव्य ज्ञान-शून्य होनेसे अजीव-जड हैं और इनमें स्पर्श, रस गन्ध रंग नहीं होते इसलिये अमूर्त हैं—किसी भी इन्द्रियसे नहीं जाने जा सकते।

धर्म द्रव्य जीव पुद्गलोंको चलने (चलने फिरने, गिरने, हिलने, कांपने आदि क्रिया) में सहायता करता है जैसे वायु पक्षियोंको उडनेमें, जल मछली को चलनेमें, सहायता करता है।

यानी-जीवोंमें या पुद्गलों (भौतिक वस्तुओं भाप, गैस, बादल, आदि) में हिलने चलने क्रिया (हरकत) करने की उपादान (अपनी मूल) शक्ति तो है परन्तु उस शक्ति की सफलता के लिये निमित्त कारण (अन्य सहायक कारण) भी अवश्य होना चाहिये क्योंकि बिना निमित्त कारणके कोई भी काम नहीं हुआ करता। आम की गुठलीमें आमका पौदा उत्पन्न करनेकी शक्ति तो है किन्तु यह काम तबही होगा जब उस गुठलीको हवा पानी, खाद आदि निमित्त कारण मिलेंगे इसी तरह जगतके समस्त क्रियाशील जीव पुद्गलोंमें हलन चलन करने की मूलशक्ति है परन्तु उस शक्तिको सफल बनानेके लिये जिस निमित्त कारण की आवश्यकता है वह निमित्त कारण रूप द्रव्य धर्म द्रव्य है।

आधुनिक विज्ञान वेत्ता इस कार्य के लिये ईथर नामक पदार्थकी कल्पना करते हैं। धर्म द्रव्य जीव पुद्गलों को क्रिया (हरकत) करने की स्वयं (खुद) प्रेरणा नहीं करता किंतु जब वे क्रियाशील होते हैं तब उनकी सहायता करता है। यह 'धर्म' एक पदार्थ है न कि अहिंसा सत्य आदि गुण रूप 'धर्म' है। धर्मद्रव्य जगत में सर्वत्र अखण्ड रूपसे पाया जाता है। लोकाकाश के समान इसका आकार है।

अधर्म द्रव्य

जिस तरह क्रियाशील पदार्थोंको क्रिया देने में निमित्त कारण रूप धर्म द्रव्य है उसी तरह जगत के सभी स्थिर पदार्थों के ठहरने (हलन चलन रूप क्रियाशून्य होने) में भी किसी सहायक पदार्थ की आवश्यकता है उसके विना वे सब पदार्थ ठहर नहीं सकते उनको ठहरने में सहायता करने वाला पदार्थ 'अधर्म' द्रव्य है। जैसे पैदल यात्रा करते समय किसी यात्री को छायादार स्थान ठहरनेमें सहायक होता है।

अधर्म द्रव्य भी प्रेरणा करके (वलपूर्वक – जवरदस्ती) किसी पदार्थको नहीं ठहराता ठहरते हुए को ठहरनेमें सहायता करता है।

यह अधर्म एक पदार्थ है, हिंसा आदि पाप क्रिया का वाचक यह अधर्म शब्द नही है। अधर्म द्रव्य भी सब जगह पाया जाता है। लोकाकाश के आकार के अनुसार इसका आकार है।

आकाश द्रव्य

जो समस्त पदार्थों को ठहरने के लिये स्थान देता है या जिसमें समस्त द्रव्य रहते हैं वह 'आकाश' है। प्रचलित व्यवहार में पर्वत, वृक्ष मकानों से ऊपर जो जगह है जहां कि सूर्य चन्द्र तारे बादल दीख पडते हैं जहां कि विमान पक्षी उडते हैं जो कि नीले रंग का दीख पडता है उसीको आकाश कहते हैं किन्तु वास्तवमें आकाश केवल उतना ही नहीं है वह भी आकाशका एक अंश है आकाश जहां हम रहते हैं वहां भी है हमारे ऊपर नीचे चारों ओर है जहां मोटी वायु है वहां भी आकाश है; जहां सूक्ष्म वायु होती है वहां भी आकाश है और जहां वायु नहीं है वहां भी आकाश है आकाश पृथ्वी के ऊपर भी है भीतर भी है, पानी में भी है। सारांश यह है कि जहां जहां पर कोई भी पदार्थ पाया जाता है वहां वहां पर आकाश अवश्य है क्यों कि

आकाश वहां पर न हो तो वह पदार्थ कहां रह सकता है? अतः आकाश अनन्त है।

इतना ही नहीं इस जगत के बाहर भी जहां पर कि अन्य कोई भी पदार्थ पाया नहीं जाता वहां पर भी आकाश है। अतः आकाश अनन्त है।

जगत के भीतर का आकाश 'लोकाकाश' कहा जाता है। जगत के पदार्थों की सीमा होने के कारण उस लोकाकाशकी सीमा (हद) और आकार भी है। क्यों कि मूर्तिमान वस्तुओंका समुदाय आकार-वाला होता है और उसकी सीमा भी होती है।

लोकाकाश का आकार पेर फेलाये हुए कमर पर हाथ रक्खे हुए खडे मनुष्य के आकार का पूर्व पश्चिम में है उत्तर दक्षिणमें सब जगह सात राजू (असंख्यात योजनकी एक राजू होती है) है लोकाकाश १४ राजू ऊंचा है उसका घनफल ३४३ राजू है उसमें १४ राजू उंची एक राजू लम्बी चौडी त्रसनाडी है जिसमें त्रसजीव स्थावर जीव रहते हैं उससे बाहर के लोकाकाश में केवल स्थावर रहते है।

लोकाकाश के बाहर जहां पर केवल आकाश द्रव्य ही है असीम अलोकाकाश है।

आकाश का सबसे छोटा अंश— जितने स्थान में एक अखंड परमाणु रहता है— 'प्रदेश' कहलाता है। लोकाकाश असंख्यात प्रदेशी है। इसी असंख्यात प्रदेशी लोकाकाश में अनन्तानन्त जीव अनन्तानन्त पुद्गल धर्म अधर्म आदि सब द्रव्य समाये हुए हैं। प्रत्येक स्थान पर जीव पुद्गल आदि छहों द्रव्य पाये जाते हैं।

आकाश द्रव्य अमूर्तिक होनेसे न नेत्र से दिखाई देता है न किसी अन्य इन्द्रिय द्वारा जाना जा सकता है। मन के द्वारा ही जाना जाता है।

प्रत्येक जीव लोकाकाश के बराबर असंख्यात प्रदेशी होता हुआ भी सिकुडने फेलने की स्वाभाविक शक्ति के कारण शरीर के

बराबर रहता है। धर्म अधर्म द्रव्य भी लोकाकाशके बराबर असंख्यात प्रदेशी है। पुद्गल में परमाणु एक प्रदेशी और स्कंधों में संख्यात प्रदेशी असंख्यात प्रदेशी तथा अनन्त प्रदेशी यानी सब तरह के होते हैं। काल द्रव्य एक प्रदेशी होता है। अलोकाकाश अनन्त प्रदेशी है।

काल—द्रव्य

पहले कही गई पांच द्रव्यों [जीव; पुद्गल; धर्म; अधर्म आकाश] के सिवाय एक द्रव्य और है जिसका नाम काल है।

जगत का प्रत्येक द्रव्य प्रतिक्षण अपनी दशा [पर्याय] बदलता रहता है कोई भी द्रव्य एक जैसी हालत में ही सदा नहीं रहने पाता सभी वस्तुएं वे चाहे जहां हो और चाहे जैसी हों उनमें अपनी स्वभाव के अनुसार कुछ न कुछ तब्दिली [परिवर्तन] होतीहीं रहती है। यानी उनमें कुछ न कुछ पुरानापन हटकर नयापन आताहीं रहता है। यह बात दूसरी है कि हमारी स्थूल दृष्टि [मोटी निगाह] उस सूक्ष्म परिवर्तन को सहसा [यकायक] न समझ पावे जिस तरह बहुत दृढ बने हुए भवन मकान जीवन भर देखते रहनेपर ज्यों के त्यों दिखाई देते हैं किंतु उनके भीतर प्रति समय पुरानापन आरहा है और उनको निर्बल बनाता जा रहा है अतः कोई क्षण ऐसा आता है जब वे अपने आप गिरकर चूरचूर हो जाते हैं। ऐसी ही बात सब वस्तुओं की है।

इस प्रकार के जगत व्यापी परिवर्तन कराने का निमित्त कारण काल-द्रव्य हैं। व्यवहार की बोलचाल में हर समय काल टाईम; वक्त आदि कहते हैं कि इतना काल [टाइम समय वक्त] हो गया यह दिनका काल है, यह रात्री का काल है आदि। किंतु यह व्यवहार निराधार नहीं है उसका आधार भूत एक वास्तविक वस्तु जो है वही काल-द्रव्य है, वह अमूर्तिक होनेसे दृष्टि गोचर या इन्द्रिय गोचर [छूने, दीखने; चखने, सूंघनेमें न आने वाला] नहीं है किंतु वह मनद्वारा विचार करने पर जाना जाता है।

उपादान

यह नियम है कि विना निमित्त कारण के उपादान कारण काम नही कर सकता जैसे कि रुई में कपडा बनने की उपादान शक्ति तो है किंतु उसको चरखा जुलाहा [कपडा बुनने वाला] आदि निमित्त कारण जबतक न मिलेंगे तबतक कपडा न बन सकेगा। इसी तरह पदार्थों में अपनी दशा बदलने की उपादान शक्ति विद्यमान है वह उपादान शक्ति भी विना निमित्त कारण मिले अपना कार्य नहीं कर सकती। विचार करनेसे यह प्रतीत होता है कि समस्त पदार्थ प्रतिक्षण बदल रहे हैं [जैसे प्रत्येक संसारी जीव प्रति समय अपने मृत्युके निकट पहूंचता जा रहा है] उस बदलने का कोई "समर्थ विभिन्न कारण" नियमानुसार अवश्य होना चाहिये। वह जो निमित्त कारण है उसीका नाम काल द्रव्य है।

कच्चा आम दो मास के समय ने हरे से पीला कर दिया। कच्चेसे पका कर दिया; खट्टे से मीठा कर दिया इत्यादि 'परिणाम' [इन्द्रियों द्वारा मालूम होने वाला परिवर्तन] 'क्रिया' [खाना पीना पढना आदि काम होना] 'परत्व' [आयु की अपेक्षा बडप्पन] 'अपरत्व' [आयु की अपेक्षा छोटापन] के द्वारा तो हम काल का अनुभव करते ही हैं किंतु यह मिनिट, सेकंड; घडी; घंटा; दिन; मास वर्ष आदि व्यवहार काल का अनुमान है जो इस व्यवहारका मूल कारण है वह वास्तविक [निश्चय] कालद्रव्य है। क्यों कि व्यवहार तबही होता है जब वास्तविक [निश्चय] वस्तु भी कोई होती है। जैसे पुस्तको में सिंह का चित्र या खिलौने में सिंह देखा जाता है वह तभी है जब कि वनमें वास्तविक [सच्मुच] सिंह होता है। यदि असली सिंह सर्वथा [बिलकुल] न होता तो उसकी नकल [प्रतिकृति] रूप उसके चित्र या खिलौने कदापि न होते।

निश्चय [वास्तविक, असली] कालद्रव्य परमाणुओं के आकार का होता है और वह लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर विद्यमान है। इस

प्रकारके काल अणु लोकाकाश में असंख्यात हैं और सब अलग अलग हैं। उन्हीं काल द्रव्य के निमित्त से प्रत्येक पदार्थ में प्रतिसमय परिवर्तन होता रहता है अमूर्तिक होनेसे काल अणु दीख नहीं पडते।

धर्म, अधर्म, आकाश, काल की सिद्धि

हमको पदार्थों के विषय में चार बातें मालूम होती रहती हैं।

१—चलना, फिरना, आना; जाना; हिलना, कांपना, गिरना,पडना घूमना आदि कुछ न कुछ क्रिया [हरकत] करते हुए।

२—ठहरना, स्थिर रहना, स्तब्ध रहना; रुकना, खडे रहना, बैठे रहना, पडे रहना आदि यानी—हलन चलन क्रिया शून्य स्थिररहना।

३—यहां, वहां; कहां; किधर; इधर, उधर, ऊपर; नीचे, आदि स्थान सूचक बातें।

४—आज कल परसों कब तब जब अब आदि समय सूचक बातें।

इन चारों बातों के सर्व जगत व्यापी निमित्त कारण होने चाहिये तदनुसार पहली बात का निमित्त कारण 'धर्म द्रव्य' है दूसरी बातका निमित्त कारण अधर्म द्रव्य है। तीसरी बातका निमित्त कारण आकाश द्रव्य है। और चौथी बात का निमित्त कारण 'काल' द्रव्य है।

इस प्रकार यह जगत इन कई प्रकार की वस्तुओं—जीव पुद्गल धर्म अधर्म आकाश और काल— का समुदाय रूप है।

अनेकान्त

प्रत्येक पदार्थ वह चाहे जड हो या चेतन; चर हो या अचर; अनेक धर्मों (विशेषताओं-सिफ्तों) का घर है। यानी-प्रत्येक पदार्थमें अनेक प्रकारकी विशेषताएं पाई जाती हैं जिनमें से कुछ साधारण तौरसे परस्पर-विरोधी जान पडती हैं किन्तु वास्तवमें ऐसी बात नहीं है।

जैसे कि एक ही मनुष्य पिता भी है; पुत्र भी है; भाई भी है; पोता भी है बाबा भी है; मामा भी है भानजा भी,हे साला भी है-बहनोई भी हैं; श्वसुर भी है और दामाद भी है।

ये बातें साधारण तौरसे परस्पर विरोधी-अनहोनी (असंभव) सी

दीखती हैं किन्तु होती ठीक हैं। भगवान ऋषभनाथ अपने पिता कुलकर नाभिराय के पुत्र थे; भरत चक्रवर्ती के पिता थे; अपने दादाके पोते थे और भरतके पुत्र अर्ककीर्तिके दादा थे इसी तरह अन्य परस्पर विरोधी सम्बन्ध श्वसुर; जमाई; साले-बहनोई आदि भी ठीक रूपसे मनुष्यों में घटित होते हैं।

दूध स्वस्थ मनुष्यको शक्ति देता है किन्तु अतिसार रोग वाले (जिसको दस्त हो रहे हैं) व्यक्ति को वही दूध हानि करता है; निर्बल बनाता है। स्वस्थ प्यासे मनुष्यको जल लाभ देता है-उसकी प्यास बुझाता है; वही जल हैजा रोग वाले प्यासे मनुष्य को हानि पहुंचाता है। अग्नि कागज को जला देती है, अभ्रक को नहीं जलाती ठंडकमें अग्नि का सेक सुख देता है किन्तु गर्मीमें उसका सेक दुख देता है।

भारतवर्ष हिमालय पर्वतसे दक्षिणमें है, हिन्दमहासागरसे उत्तरमें है; अफगानिस्तानसे पूर्वमें है और वर्मासे पश्चिममें है।

इसी प्रकार विष खानेसे मनुष्य मर भी जाता है और औषध रूप में विष खानेसे मरणासन्न मनुष्य जीवन प्राप्त कर लेता है।

इस तरह किसी भी पदार्थका विचार कीजिये उसमें अनेक धर्म पाये जाते हैं। उनके लिये यदि एक हठ-एकान्त पकडकर 'ही' लगाई जावे तो वह समझना गलत ठहरता है और यदि एक हठ छोडकर 'भी' का प्रयोग किया जाय तो सब ठीक हो जाता है।

यदि गांधीजीके विषयमें कोई यह हठ करे कि महात्मा गांधीजी 'पिता ही हैं' तो देवीदासजी की अपेक्षा तो ठीक बात बनेगी किन्तु श्री करमचंद जी की अपेक्षा बात ठीक न होगी क्योंकि करमचंदजीके तो वे पुत्र थे। इस कारण 'ही' के स्थान पर 'भी' का प्रयोग करना चाहिये तदनुसार यों कहना चाहिये कि महात्मा गांधीजी पिता भी हैं और वे ही महात्मा गांधीजी पुत्र भी हैं (अपने पिता की अपेक्षा से)।

इस कारण प्रत्येक पदार्थ एक रूप ही नहीं है बल्कि अनेक रूप है। पदार्थ की इस अनेकरूपता को ही 'अनेकान्त' (अनेके अन्ताः धर्माः यस्मिन् असौ अनेकान्तः) कहते हैं।

जैसे जन्मके अन्धे पांच मनुष्योंने हाथसे टटोल कर हाथी को जाना एक अंधे ने हाथीकी पूंछ पकडी-उसने समझ लिया कि हाथी लचकने डंडे जैसे होता है; दूसरे अंधेने हाथीका पैर पकडा उसने समझा कि हाथी खंभे सरीखा होता है; तीसरे ने उसका कान छूआ उसको मालूम हुआ कि हाथीका आकार सूप सरीखा होता है; चौथे अंधे ने उसकी सूंड को हाथ लगाया उसने समझा कि हाथी उलटे केलेके पेड जैसा होता है और पांचवें अन्धेने हाथीके पेट पर हाथ फेरा उसने विचार किया कि हाथीका आकार कपडोंके बडे गट्ठरके समान होता है।

यदि वे पांचों अन्धे अपनी अपनी समझके अनुसार 'ही' लगाकर कहें कि हाथी ऐसा 'ही' होता है तो उनका कहना या समझना त्रुटिपूर्ण है यदि वे अपने समझने या कहनेमें 'भी' लगा लें यानी-हाथी खंभ जैसा भी है; डंडे जैसा भी है; सूप सरीखा भी है। आदि। तो उनका कहना ठीक बन जायगा।

इसी प्रकार 'भी' का प्रयोग करनेसे पदार्थका 'अनेकान्त' स्वरूप बन जाता है; 'ही' का प्रयोग करनेसे विवाद और गलतीका कारण एकान्तवाद या हठवाद आ खडा होता है।

इस तरह जगतके सभी पदार्थोंको अनेक धर्ममय कहना अनेकान्त वाद है।

स्याद्वाद

अनेकान्त रूप पदार्थोंको ठीक तौरसे जानने या समझनेका सीधा; सरल सच्चा मार्ग 'स्याद्वाद' है।

'स्याद्वाद' का अर्थ 'किसी एक अपेक्षा (दृष्टि कोण) से किसी बात का समझना है।

जैसे कि—हम कहते हैं कि 'जीव मरता है' तब हमारा दृष्टिकोण शरीर [जो कि संसारी जीवके कुछ दिन ठहरनेका घर है।] पर होता है यानी 'शरीरकी अपेक्षा जीव मरता है।' और जब यह कहते हैं कि

'जीव अमर है' तब हमारा दृष्टिकोण जीव द्रव्य या जीवके गुणों पर होता है जो कभीभी नष्ट नहीं हुआ करता।

'स्यात्' शब्दका अर्थ (सामने आई हुई) कोई एक अपेक्षा (दृष्टि-कोण) है। यानी हम जिस बात को जान रहे हैं वह किसी एक अपेक्षा से है, सर्वथा (सभी दृष्टिकोणोंसे) नहीं है। 'स्यात्' (कथंचित्-किसी अपेक्षासे) शब्द जहां जुडता है वहां पर 'भी' का बोध होता है यानी-इस बातकी साफ झलक होती है कि यद्यपि यह बात इस दृष्टिसे तो ऐसी है किन्तु अन्य दृष्टिकोणोंसे अन्य प्रकार भी है।

जैसे कि—स्यात् भारतदेश पूर्व में है यानी-कथंचित् अफगानिस्तान अरब; टर्की आदि देशोंकी अपेक्षासे (सब तरह नहीं) भारतदेश पूर्व दिशामें है। अब समझने वाला समझ सकता है कि अन्य दिशावर्ती देशोंकी अपेक्षा भारत पश्चिम आदि दिशाओंमें भी है।

जब हम कहते हैं 'स्यात् घडा है' (किसी अपेक्षासे घडा है) तो उसी समय हमारे कहनेका अभिप्राय यह स्वयं अपने आप निकल आता है 'कि किसी अपेक्षा से घडा नहीं भी है'। जो कि ठीक बात है। घडा यदि 'है' तो अपने रूपसे (द्रव्य, क्षेत्र; काल, भावसे) है 'अन्य पदार्थोंकी अपेक्षा से वह नहीं भी है।'

'स्यात् गांधीजी पिता हैं' (किसी एक दृष्टिसे गांधीजी पिता हैं) इसका अर्थ है कि 'अपने पुत्रों-देवीदास, मणिलाल आदिकी अपेक्षासे गांधीजी पिता हैं।' अन्य (श्री करमचद जी; श्रीमती कस्तूर बा आदिके) 'अपेक्षाओंसे गांधीजी पिता नहीं है।' यानी-गांधीजी सिर्फ पिता ही नहीं हैं बल्कि 'पुत्र' (अपने पिता करमचंद्रजीकी दृष्टिमे); पति (अपनी धर्मपत्नी श्रीमती कस्तूरबाईकी अपेक्षासे) आदि और कुछ भी हैं।

इस तरह 'स्यात्' शब्द अन्य अनुक्त (न कही गई-गुप्त) अन्य बातों की भी सूचना देता है। 'स्यात् मेज बडी है' इसका अर्थ है चौकी आदि छोटे पदार्थोंकी अपेक्षा ही मेज बडी है किंतु तख्त आदि बडे पदार्थोंकी अपेक्षा वह छोटी भी है।

इस प्रकार अन्य दृष्टिकोणोंका ख्याल रखते हुए जो किसी एक दृष्टि-

कोणसे किसी बातका विचार किया जाता है वह 'स्याद्वाद' है जो कि एकांतवाद या हठवाद का निषेध करता है।

वर्तमान समयके सबसे बडे वैज्ञानिक डा० 'आइंस्टायन' का जो सापेक्षवाद है वह 'स्याद्वाद' का ही एक रूप है।

वेदान्त; बौद्ध सांख्य आदि दर्शनोंकी एकान्त मान्यता पदार्थके एक एक अंशका विवेचन करती है अन्य अंश उनके विवेचनसे छूट जाते हैं; किन्तु जैनधर्मका स्याद्वाद सिद्धांत पदार्थके भिन्न भिन्न अंशोंका भिन्न भिन्न अपेक्षाओंसे विवेचन करता है। अतः जहां पर अन्य दर्शनोंका विवेचन समाप्त होता है स्याद्वाद का वहांसे प्रारम्भ होता है।

इस प्रकार स्याद्वाद मनुष्यकी विचार धारा को ठीक रूपसे नियन्त्रण करता है; विभिन्न दृष्टिकोणोंसे उत्पन्न होने वाले विवादोंका बडी सुन्दरता से युक्तिपूर्वक न्याय करता हुआ बुद्धिका संतुलन ठीक रखता है।

सप्तभंगी

पदार्थ अनेकान्त रूप (अनेकधर्मात्मक) हैं; स्याद्वाद उनको विभिन्न अपेक्षाओंसे ठीक अंकित करता है किंतु कहते समय स्याद्वाद द्वारा जाना हुआ अनेकान्त रूप पदार्थ एक दम किसी एकही शब्द द्वारा नहीं कहा जा सकता; वाणी द्वारा उसका विवेचन क्रमसे होता है. इस कारण स्याद्वादको सात भंगों द्वारा कहा जा सकता है इनही सात भंगोंके समुदायको 'सप्तभंगी' कहते हैं।

इन सात भंगोंके नाम ये हैं—१-स्यात् अस्ति (पदार्थ किसी अपेक्षा से है); २-स्यात् नास्ति (किसी दृष्टिकोणसे पदार्थ नहीं है); ३-स्यात् अस्ति नास्ति (पदार्थ क्रमसे है भी; नहीं भी है); ४-स्यात् अवक्तव्य (किसी अपेक्षासे पदार्थ अवक्तव्य—न कहे जा सकने योग्य यानी अनिर्वचनीय है) ५-स्यात् अस्ति अवक्तव्य (पदार्थ किसी अपेक्षासे अवक्तव्य होता हुआ भी 'है'। ६-स्यात् नास्ति अवक्तव्य (किसी दृष्टिकोणसे पदार्थ अवक्तव्य होता हुआ भी 'नहीं रूप' है) ७-स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य (एक दृष्टिकोणसे पदार्थ अवक्तव्य होता हुआ भी है भी; नहीं भी है)

जैसे 'देहली भारतकी राजधानी है' इसका पूर्ण स्पष्ट विवेचन करना चाहें तो सात भंगों द्वारा निम्नलिखित ढंगसे होगा—

१—देहली नगर अपने रूपसे (देहली नगरके रूपसे) भारत की राजधानी है।

२—देहली नगर; मेरठ, बम्बई आदि नगरोंकी अपेक्षासे राजधानी नहीं है।

३— देहली नगर अपने रूपसे [अपनी अपेक्षासे] भारत की राजधानी है मेरठ बम्बई आदि नगरों की अपेक्षासे नहीं है।

इस तीसरे भंग में पूर्वोक्त 'है; नहीं रूप' दोनो बाते क्रमसे कही गई है।

४— देहली नगर एक अपेक्षा से अवक्तव्य [न कहा जा सकने योग्य है] क्यों कि कोई एसा शब्द नहीं पाया जाता जिसके द्वारा देहलीका पहली दूसरी भंग वाला 'है और नहीं' रूप एक साथ कहा जा सके जो भी शब्द कहेगा एक समय में एकही बात कह सकेगा, अन्य बात दूसरे समय में कहेगा किंतु है वह दोनों रूप अतः एक ही शब्द द्वारा वह 'अवक्तव्य' है।

५ — देहली अवक्तव्य रूप होते हुए भी अपने रूपसे तो है ही।

६— अवक्तव्य रूप देहली अन्य मेरठ बम्बई आदि नगरों की अपेक्षा से नहीं है।

७— देहली एकही शब्द द्वारा अवक्तव्य है किंतु फिर भी अपनी अपेक्षा से 'है' अन्य नगरों की अपेक्षा 'नहीं' है।

इस तरह देहली के अस्तित्व के विषय में जितना भी स्पष्ट यथार्थ कथन हो सकता है वह इन सात भंगों द्वारा हो जाता है।

इसी प्रकार किसी भी पदार्थ के विषय में पूर्ण विशद विवेचन इन सात धाराओं से ही हो सकता है।

निक्षेप

लौकिक कार्य प्रणाली चार ढंगों से होती है इस प्रणालीको निक्षेप कहते हैं इसके चार भेद हैं— १ नाम; २ स्थापना; ३ द्रव्य, ४ भाव।

गुण का विचार न करते हुए व्यवहार चलाने के लिये किसी का कुछ नाम करण करना 'नाम' निक्षेप है जैसा किसी मनुष्य का नाम देवेन्द्र रख देना।

वास्तविक पदार्थ न होने पर अन्य पदार्थों को [नकल को] वैसा [असली] मानना 'स्थापना' है जैसे चित्र; मूर्ति [पत्थर; धातु; मिट्टीकी बनी प्रतिमा] आदि को भगवान ऋषभनाथ महावीर आदि मानना।

भूत भविष्य की दशाका वर्तमान में व्यवहार करना द्रव्य निक्षेप है। जैसे राजपुत्र को या राजगद्दी से भ्रष्ट व्यक्ति को राजा कहना।

पदार्थ की वर्तमान दशा का ही उस रूप व्यवहार करना भाव निक्षेप है जैसे राज शक्ति सम्पन्न पुरुष को राजा कहना।

इन चारों निक्षेपोंसे संसार में समस्त कार्य व्यवहार होता है।

संसार

जीव का इस जगत में अनेक प्रकार से घूमना चक्कर लगाना परिवर्तन करना इसका नाम 'संसार' है [संसरणं संसारः]

जीव जिसका दूसरा नाम 'आत्मा' भी है यथार्थ में एक शुद्ध बुद्ध अनन्त बली, अनन्तसुखी चैतन्यस्वरूप है किंतु इस संसारमें कोई भी जीव न तो पूर्ण सुखी दीख पडता है और न पूर्ण ज्ञानी। बल्कि प्रत्येक जीव किसी न किसी दुख से दुखी जान पडता है किसी को शारीरिक दुख है, किसी को मानसीक, किसी को पारिवारिक कष्ट है किसी को कुछ; तो किसी को कुछ।

जब कि प्रत्येक जीव— चाहे वह छोटा हो या बडा, मनुष्य हो या पशु— सुख चाहता है फिर क्या कारण है कि इस जीवको इसका

मन चाहा सुख तो मिलता नहीं किंतु कोई न कोई दुख इसके पीछे लगा ही रहता है।

इस प्रश्न का उत्तर यही मिलता है कि यह जीव स्वतन्त्र [आजाद] नहीं है किसी दूसरे के आधीन परतन्त्र है जिस तरह कोई कैदी जेलमें जेलर के आज्ञानुसार अनेक अच्छे बुरे काम करता है उसकी इच्छा यह होती है कि मैं इन कामोंको न करूं आराम से बैठूं सोउं किंतु उसको अपनी इच्छाके विरुद्ध सर्दी गर्मी में अनेक ऐसे काम करने पडते हैं जिससे उसके शरीर में कष्ट होता है; मनमें ग्लानी आती है किंतु पराधीनता के कारण उसको वे काम करने पडते हैं यदि न करें तो उसको मार पडती है उसको भोजन पान वस्त्र नहीं मिल सकते इसी तरह यह जीव भी किसी ऐसी परतन्त्रता में फंसा हुआ है कि जिस योनी में उसको भेजा जाता है वहां इसे जाना पडता है जैसा शरीर इसको दिया जाता है उसमें उसको रहना पडता है जैसी सामग्री अपने जीवनयापन के लिये इसको दी जावे उसी टूटी फूटी अधूरी सामग्री से इसको निर्वाह करना पडता है पद पद पर अपमान सहना पडता है बीच बीच में इसको अनेक धक्के लगते रहते हैं आदि।

यह परतन्त्रता इसको किसने दी है ? यह यहां पर एक विचारणीय प्रश्न है।

संसार का बहु भाग इस परतन्त्रता की बागडोर ईश्वर के हाथमें बतलाता है हिंदू; आर्य समाजी, सिक्ख, पारसी; इसाई, मुसलमान सब यहीं कहते हैं कि यह सब ईश्वर की लीला है ईश्वर ने ही यह सब संसार बनाया है जीव भी उसीने बनाये हैं, वह ईश्वर ही सब जीवोंको उनके किये कर्मों के अनुसार सुख या दुख देता है जन्म; मरण सब उसके हाथ में है संसार में जो कुछ होता है उसी की इच्छानुसार होता है उसकी इच्छा के बिना पेडका पत्ता भी नहीं हिल सकता इत्यादि—

यानी यह संसार यदि जेलखाना है तो इसका सबसे बडा अधि-

कारी वह ईश्वर है और संसार के न्यायालय का सबसे बडा न्यायाधीश [जज] भी वह स्वयं ईश्वर है जिसके निर्णय को अपील कहीं और जगह नहीं हो सकती, नियम बनाने वाला और उसका पालन कराने वाला भी वह ईश्वर स्वयं आप है।

जिस ईश्वर को संसार का प्रधान संचालक माना जाता है वह ईश्वर सर्वज्ञ [त्रिकाल ज्ञाता] सर्व शक्तिमान [सब कुछ करने की शक्ति रखने वाला] न्यायकारी [न्याय करने वाला] अशरीरी [बिना शरीर वाला] और दयालू [दया करने वाला] बताया जाता है। हिंदू आर्य समाजी और सिक्ख मुसलमान मतानुसार वह सर्वव्यापक [जगत के प्रत्येक अंश में जर्रे जर्रे में मोजूद] है।

अब विचार कीजिये कि इन करोडों मनुष्यों की यह मान्यता कहां तक ठीक है?

ईश्वर यदि सचमुच जीवोंको उत्पन्न करने वाला और उनको उनके कर्मों के अनुसार फल देने वाला है तो उसने ऐसे दुष्ट पापी अत्याचारी जीव उत्पन्न क्यों किये? जो दुराचार अन्याय अत्याचार करते हैं क्यों कि ईश्वर आगामी समय में होने वाले उन दुष्टों के दुराचारोंको पहले से जानता था? जानबूझ कर उसने उनको उत्पन्न किये तो वह न्यायकारी दयालु न रहा क्यों कि पहले दुष्टों को पैदा करना और उनसे संसार में दुराचार फैलवाना फिर उनको दड देना दयालु का काम नहीं। यदि उसे यह मालूम न था कि अमुक जीव आगे जाकर ऐसा काम करेंगे तो फिर वह ईश्वर 'सर्वज्ञ' नही हो सकता।

ईश्वर जब सर्वशक्तिमान है और प्रत्येक स्थान पर मौजूद है तो उसको अपनी शक्तिसे पाप, दुराचार तुरंत रोक देना चाहिये। यहां भी किसी पुलिस अधिकारी को अथवा मजिस्ट्रेट को यदि यह मालूम हो जाय कि अमुक मनुष्य किसी को मारने वाला है, या अमुक आदमीके घर चोरी, डाका डालने वाला है तो उसको डाका डालने या चोरी करनेसे पहले ही वह पुलिस अधिकारी मजिस्ट्रेट पकड लेता है।

ईश्वर जब अशरीरी है तो जीवोंको दंड देनेके लिये आप तो आ नहीं सकता; दंड देनेके लिये दूसरे जीवोंसे ही काम लेता है। तदनुसार किसीको रुपये पैसेका दंड देनेके लिये ईश्वरको उसके घर चोर डांकू भेजना पडेगा। यानी-चोर या डाकू ईश्वरकी प्रेरणासे दूसरे धनी मनुष्यको सजा देनेके लिये चोरी करता है; डाका डालता है तो फिर वे चोर; डाकू अपराधी (कुसूरवार; गुनाहगार) न माने जाने चाहिये क्योंकि वे ईश्वरीय तौर पर दूसरोंको सजा देनेका काम करते हैं, किंतु यहांकी पुलिस उस ईश्वरकी पुलिस (चोर डाकुओं) को पकडकर जेलमें डाल देती है या गोली चलाकर उन्हें मार डालती है। सर्व शक्तिमान ईश्वरकी पुलिश यों मार खावे यह कहां तक ठीक है? क्या ईश्वरको अपनी पुलिशकी रक्षा न करनी चाहिये?

संसारमें कहीं किसीका कत्ल हो रहा है; किसी सती स्त्रीका जबरदस्ती सतीत्व-भंग हो रहा है; असंख्य गायों; बकरियोंका निर्दयतासे बध हो रहा है। इत्यादि कार्य ईश्वरकी प्रेरणासे हो रहे हैं क्योंकि ईश्वर उनको पूर्व जन्मके पापोंका फल दिला रहा है; तब संसारमें कोई भी पापी कुकर्मी अत्याचारी न ठहरा क्योंकि वे सब काम तो ईश्वरके प्रेरणासे हो रहे हैं। तब ईश्वर किसीको दंड किस बातका देगा?

ईश्वर की प्रेरणा से एक रईस को दंड देने के लिये एक चोर उस रईसके घर जाता है उधर पुलिस को पता चल जाता है और पुलिस उस चोरको रंगे हाथ पकड लेती है। ये दोनों कार्य ईश्वर को जानकारी में ईश्वर के संकेत [इशारे] पर हुए हैं क्योंकि "ईश्वर की इच्छा के विना एक पत्ताभी नहीं हिलता"। अब विचार कीजिये कि ईश्वर इधर तो रईसको सजा दिलाने के लिये उसके घर चोरी के लिये चोर भेजता है, और उधर पुलिससे उस बेचारे चोरको पकडवा भी देता है। यह ईश्वरका न्याय है या अन्याय?

संसार की अशांति; पाप, अत्याचार ईश्वर यदि चाहे तो दया या न्याय के नाम पर एक क्षणमें दूर कर सकता है क्यों कि वह सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान है; सर्वज्ञ है यानी—सब कुछ जानता है सब जगह मोजूद है और सब कुछ कर सकता है।

मैं यदि एक मिनट के लिये भी सर्वशक्तिमान; सर्वज्ञ बन जाऊं तो कोरिया का युद्ध तो कोई चीज नहीं संसार का सारा ढांचा तुरंत ठीक कर दूं; न तो रत्तीभर किसी जीव को किसी भी तरह का कष्ट रहने दूं न किसी भी जीव में पाप वासना रहने दूं; सबको पूर्ण सुखी बना दूं। क्यों कि जब मुझमें सब कुछ करने की शक्ति हो तो सब कुछ जानता बूझता हुआ उस सर्वशक्ति का उपयोग क्यों न करूं?

ईश्वर जब कृतकृत्य और पूर्ण है तो उसमें बिगाडने; मारने जिलाने आदिकी इच्छाएं क्यों उत्पन्न होती हैं? इच्छाएं सदा अपूर्ण व्यक्ति में हुआ करती हैं।

ईश्वर जब शुद्ध निर्विकार है तब वह जगत बनाना; प्रलय करना किसीको दंड देना; किसी को सुख देना आदि राग द्वेष के के कार्य क्यों करता है?

ये सब बातें इस बातका स्पष्ट निर्णय करती हैं कि जीवों के उत्थान पतन, सुख दुख देने आदि में ईश्वर का हाथ रंचमात्र भी नहीं है।

तब फिर यह सब कुछ कैसे हो सकता है इसका उत्तर है जीवों के अपने अपने उपार्जित 'कर्मों के' द्वारा ही यह सब कुछ ससार का विचित्र खेल हो रहा है।

'कर्म क्या बला है' इस बात पर कुछ प्रकाश डाला जाता है।

कर्म सिद्धांत

संसार में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं कि एक ही माता पिता से उत्पन्न हुए दो सगे भाइयों में से एक तो राजसुख भोगता है और दूसरा इधर उधर ठोंकरे खाता फिरता है जैसा कि कुछ दिन पहले इंगलेंड के राजसिंहासन पर बेठे हुए अष्टम एडवर्ड को राजसिंहासन छोडना पडा और अभीतक वे इधर उधर घूम रहे हैं और उनका छोटा भाई छठा जार्ज राजगद्दी पर बैठकर शासन करता रहा। इसी तरह किसी दरिद्र घरमें दो सगे भाईयों में से एक भाई कोटिपति घराने में दत्तकपुत्र होकर बडे वैभव का स्वामी अनायास बन जाता है जबकि उसका

दूसरा भाई उसी अपने घरमें दरिद्रता के साथ कठिनाई से जीवन व्यतीत करता है।

इन दोनों उदाहरणों में विचारने की बात यह है कि सगे भाइयोंमें ऐसा अंतर किस कारण हुआ कि एक राजासे साधारण आदमी बनगया और एक दरिद्र से धन कुबेर बन गया?

तथा—

ज्ञान आत्माका एक गुण है; जीव अपने नेत्र; कान; जीभ; नाक त्वचा इन्द्रियों द्वारा पदार्थों को जानते अवश्य हैं किंतु वह ज्ञान इन्द्रियों से उत्पन्न नहीं होता क्यों कि यदि ऐसा होता तो निर्जीव शरीर भी जानता देखता क्यों कि उसमें भी आंख; नाक, आदि पांचों इन्द्रियां ज्यों का त्यों विद्यमान हैं।

तथा–जिस समय आत्माका उपयोग (ध्यान) किसी अन्य ओर लगा हुआ हो तब इन्द्रियों द्वारा कुछ भी ज्ञान नहीं होता नेत्र देखते हुए भी कुछ नही देखते; कान खुले रहकर भी कुछ नहीं सुन पाते। स्व०श्री पं० टोडरमलजी गोम्मटसार आदि ग्रंथों की जब टीका लिख रहे थे वे उस कार्य में इतने तन्मय थे कि भोजन करते समय उनको शाक दाल का स्वाद भी कुछ मालूम नही होता था। जब उन्होंने टीका समाप्त करली तब उनकी रसना [जीभ] को पता चला कि दाल में नमक बहुत कम है। प्रयाग युनिवर्सिटी के गणित के प्रधानाध्यापक डा० गणेशप्रशादजी ने अपने पीठ के फोडे [डांठ] को चीरा लगवाते [आपरेशन कराते] समय अपना ध्यान अपनी एक पुस्तक में ऐसा लगाया कि आपरेशनके उस आधे घंटे के समय में उनको कुछ पीडा भी मालूम न हुई; और इसी कारण वे रंचमात्र भी न हिले डुले। हालां कि डाक्टर ने उनसे कहा था कि फोडा सख्त स्थान पर है अतः क्लोरोफार्म सुंघाकर आपरेशन हो सकेगा। यदि इन्द्रियां ही ज्ञान की उत्पादक होतीं तो रसना इन्द्रिय पं० टोडरमल्लजी को ग्रन्थों की टीका करते समय भोजनका स्वाद अवश्य बतलाती और आपरेशन कराते समय डाक्टर गणेश

प्रशादजी को उनकी त्वचा इन्द्रिय चीरने की पीडा अवश्य अनुभव कराती।

इसीलिये सिद्ध होता है कि इन्द्रियां ज्ञानक उत्पन्न नहीं करतीं; वे तो केवल इतना कार्य करती हैं जितना फोटोग्राफर के केमरे की आंख [लेन्स] जैसे लेन्सपर बाहरी पदार्थों का प्रतिबिम्ब पडता है ठीक इसी तरह शरीर धारी जीव की नेत्र नाक त्वचा आदि इन्द्रियों पर बाहरी पदार्थों की छाया अवश्य पडती है। किंतु उस प्रतिबिंब का ग्रहण करना या जानना जीवका कार्य है अतः यों कहना चाहिये कि पदार्थोंको इन्द्रियां नहीं जानती बल्कि शरीर में विद्यमान जीव इन्द्रियोंके द्वारा जानता है। जैसे कि मकान में बैठा हुआ मनुष्य खिडकियोंसे झांक-कर बाहरी वस्तुओं को देखता है। यानी इन्द्रियां केमरे की लेन्स या मकान की खिडकियों के समान बाहरी पदार्थों के जानने में सहायता करती हैं स्वयं उनमें जानने की शक्ति नही है।

पुस्तकों से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह भी ऐसी ही बात है। यदि पुस्तकोंमें ज्ञान भरा हुआ हो तो वे पुस्तकें उन अक्षरों या शब्दोंके न जाननेवाले व्यक्ति को भी ज्ञान उत्पन्न करा देतीं बैल; भैंस, बन्दर भी पुस्तकों से ज्ञान प्राप्त कर लेते। या संस्कृत हिंदी भाषासे अपरिचित तथा देवनागरी लिपिका न जानने वाला अंग्रेज भी संस्कृत; हिंदी भाषा की पुस्तकों से ज्ञान प्राप्त कर लेता किंतु ऐसा होता नहीं है। इस कारण सिद्ध होता है कि पुस्तकें स्वयं जड हैं-ज्ञानशून्य हैं; वे ज्ञान उत्पन्न कराने में असाधारण कारण नहीं किंतु उन अक्षरोंके जानकार मनुष्योंके लिये सहायक हैं। अतः ज्ञानको पुस्तकें भी नहीं देतीं किंतु मनुष्य पुस्तकोंके द्वारा अपने ज्ञानको चमकाता है।

विद्यार्थियोंको पढाने वाला अध्यापक भी ज्ञानका देने वाला नहीं है क्योंकि यदि अध्यापक (मास्टर) ज्ञान देता हो तो उस अध्यापकमें से ज्ञानकी मात्रा कम होती जानी चाहिये क्योंकि कोई भी वस्तु किसी को दी जावे तो देने वाले के पास वह वस्तु उतनी कम हो जाती है किन्तु

नहीं होता इससे विपरीत है। यानी जन्मभर पढाते रहने पर भी अध्यापकका ज्ञान रत्ती भर भी कम नहीं होता बल्कि दिन पर दिन बढता ही जाता है।

इससे यह अभिप्राय निकला कि ज्ञान तो विद्यार्थियोंमें पहले से ही था किंतु वह धुंधला था अध्यापक द्वारा पढाये जाने पर विद्यार्थियोंके ज्ञानकी वह धुंधलाहट (पर्दा) कम होगई जिससे विद्यार्थियोंके ज्ञानमें चमक आगई।

जिस तरह चाकू पर शाण से धार रक्खी जाती है तो यह बात नहीं कि धार चाकूमें उस शाण से आती है, धार तो उस चाकू में ही पहले से ही थी परन्तु शाणसे रगड खाने पर वह चाकूमें स्पष्ट दीखने लगी है। ठीक इसी तरह ज्ञान विद्यार्थियोंमें पहलेसे होता है अध्यापक उस ज्ञानको चमका देता है।

सारांश यह है कि आत्मामें ज्ञान गुण मौजूद है उसी ज्ञानको चमकानेमें ये इन्द्रियां; पुस्तकें और अध्यापक सहायक हुआ करते हैं।

जब कि ज्ञान आत्माका अपना निजी गुण है तब वह संसारी जीवमें पूर्ण विकसित क्यों नहीं होता? किसी जीवमें कम और किसीमें अधिक क्यों पाया जाता है? सबके एक समान क्यों नहीं है?

तथा—

सुख भी आत्माका ही एक निजी गुण है; मनुष्य यह समझते हैं कि 'सुख हमको बाहरी पदार्थोंसे मिलता है मिठाई; नमकीन; मसालेदार चीजें खानेसे आनन्द मिलता है; सुगन्धित तेल; इत्र, फूल, कपूर आदि सूंघनेसे चित्त प्रसन्न होता है; ठंडकमें गर्मवस्त्र और गर्मीमें ठंडे पदार्थ सुख उत्पन्न करते हैं मैथुन सेवन सुख देता है; सिनेमा, नाटक, बाग, नदी आदि प्राकृतिक दृश्य नेत्रों द्वारा आनंद देते हैं, सुरीले गाने; बाजे सुख पहुंचाते हैं। इत्यादि। यानी आत्माको सुख पदार्थोंसे मिलता है।'

किन्तु ऐसा समझना भ्रम है क्योंकि यदि इन बाहरी पदार्थोंमें सुख

होता या ये पदार्थ सुख देते तो इनसे सदा सुख मिलता रहता किन्तु ऐसा है नहीं। रोगी मनुष्यको मिठाई; दूध आदि चीजें कढवी मालूम होती हैं; नेत्र दुखने पर सिनेमा; बाग, नदीकी सैर दुख पहुंचाती है, ज्वर पीडित मनुष्यको विषय सेवन एक भारी आफत है; थके मांदे; निद्राभिभूत (जिसको नींद आ रही हो) मनुष्यको गाना; बाजे आदि कष्ट पहुचाते हैं, जिस मनुष्यके शरीरमें वायुकी पीडा हो रही है उसको किसी भी पूर्वोक्त पदार्थसे सुख नहीं मिलता। ये बातें इस बातका खंडन करती हैं कि बाहरी पदार्थोंसे सुख मिलता है।

यदि यह कहा जावे कि स्वस्थ शरीर होने पर ये बाहरी पदार्थ सुख देते हैं तो यह मानना भी गलत है क्योंकि यदि किसी मनुष्यका पुत्र मित्र स्त्री आदि कोई प्रियजन मर जावे तो स्वस्थ नीरोग शरीर होने पर भी उसको किसी भी सुन्दर योग्य पदार्थसे जरा भी सुख नहीं मिलता; खान पान; सैर सपाटा उसे दुखदायक प्रतीत होता है। इससे यह साबित होता है कि स्वस्थ शरीर भी सुख नहीं देता।

एक मनुष्यको तार द्वारा सूचना मिली कि तुमको तीन लाख रुपये की लाटरी मिली है. तार पढकर उसको सुख अनुभव हुआ तो क्या वह सुख उस मनुष्यको उस तार ने दिया? यदि तारने सुख दिया होता तो उस तारको पढने वाले अन्य मनुष्योंको भी उस तारसे सुख मिलना चाहिये था किंतु उन दूसरे मनुष्योंको उससे कुछ भी सुख नहीं मिलता बल्कि उससे ईर्ष्या रखने वाला उसका भाई उस तार को पढकर दुखी होता है। इस तरह यदि देखा जाय तो वह कागज पर लिखा हुआ समाचार (तार) न सुख देने वाला है और न दुखका देने वाला है।

तात्पर्य यह है कि सुख एक चैतन्य गुण है; जो कि केवल जीव में रहता है अन्य किसी जड पदार्थमें नहीं पाया जाता। बाहरी पदार्थ जीवमें विद्यमान उस सुख गुण को जगा देते हैं या जीव उन स्वादिष्ट भोजन आदि बाहरी पदार्थों के निमित्त से अपने सुख का अनुभव

करने लगता है। यही यथार्थ बात बिना विचार किये झलकने लगती है कि ये भोजन आदि पदार्थ सुख देते हैं।

जब कि ज्ञान की तरह सुख भी आत्मा का अपना निजी गुण है तब वह सब जीवों में एकसा क्यों नहीं पाया जाता? किसीमें कम और किसी में अधिक क्यों पाया जाता है? कोई मनुष्य जन्म भर सुखी और कोई जन्म भर दुखी देखने में क्यों आता है? यह सब भेदभाव क्यों हुआ? तथा उस सुख गुण का पूर्ण विकास हम सब के क्यों नहीं हो पाता?

इस प्रकार विचार से यह बात मालूम होती है कि आत्मा के साथ कोई एक ऐसी वस्तु लगी हुई है जिसके कारण आत्मा के गुण अपने वास्तविक [असली] रूपमें विकसित नहीं हो रहे। जिस तरह अंगारे के ऊपर आई हुई राख अंगारे की अग्नि को ढक लेती है अथवा दर्पण पर जमी हुई मैल-मिट्टी दर्पण में पदार्थों की झलक नहीं आने देती, सूर्य के नीचे आया हुआ बादलों का पटल सूर्य के प्रकाश और संताप [धूप] को कम कर देता है अर्थात् पूर्ण शक्तिको व्यक्त नहीं होने देता अथवा जिस प्रकार जल मिश्रित दूध अपने असली स्वाद से च्युत हो जाता है अथवा स्वाद विकारी हो जाता है। इसी तरह आत्मा के साथ भी किसी विजातीय द्रव्य का ऐसा मिश्रण हो रहा है जो आत्मा के स्वभाव को प्रगट नहीं होने देता।

आत्माके स्वभावको विकृत बनाने वाली जो वस्तु है उसको ही 'कर्म' कहते हैं; कर्मको भाग्य; तकदीर कहते हैं कोई प्रकृती कोई माया कोई सूक्ष्म शरीर आदि अनेक शब्दों से कहते हैं।

कर्म है क्या वस्तु?

पीछे जिस पुद्गल द्रव्य का वर्णन आया है वह पुद्गल अपने परमाणु रूपमें तो प्रायः एक सरीखा होता है। किंतु उन अनेक परमाणुओंके आपस में मिल जाने पर जब स्कन्ध बन जाता है तब अनेक प्रकारका हो जाता है। पत्थर, पानी; लोहा; मिट्टी; गंधक; शीशा शक्कर आदि के

स्कन्ध परस्पर में बहुत भेद रखते हैं जिन स्कन्धों से हमारा शरीर बनता है तथा यह शरीर जिन स्कन्धों से बढता है वे स्कन्ध पत्थर आदि के स्कन्धों से भिन्न प्रकार के होते हैं।

इन ही स्कन्धों में एक 'कार्माण' स्कन्ध होते हैं जो हैं तो सब जगह परन्तु वायु से भी सूक्ष्म होने के कारण नेत्रों से दिखाई नहीं देते। वेही कार्माण स्कन्ध आत्माके प्रदेशों से [अंशों से] घुलमिल कर आत्माका स्वरूप बिगाडा करते हैं।

ऐसा होता क्यों है ?

जिस तरह चुम्बक में लोहे को अपनी ओर आकर्षण करने की शक्ति है अतः जहां कहीं भी चुम्बक की पकड के सीमामें [हदमें] लोहा होगया आ जावेगा वहां या तो हलका हुआ तो लोहेको चुम्बक अपनी ओर खींचकर अपने साथ चिपटा लेगा यदि लोहा भारी हुआ तो चुम्बक स्वयं उससे जा मिलेगा। गत दूसरे महायुद्धमें जर्मनी ने ऐसीही चुम्बकीय सुरंगों से अंग्रेजोंके सैकडों जहाजों को नष्ट कर दिया था।

इसी प्रकार आत्मामें भी एक आकर्षण [अपनी ओर खींचने की] शक्ति है जो कार्माण स्कन्धों को अपनी ओर खींचा करती है जीवकी इस आकर्षण शक्ति का नाम जैन सिद्धांतों में 'योग' कहा गया है।

आकर्षण होता कब है ?

यह शरीरधारी जीव जिस समय कुछ विचार करता है तब इसके मन के द्वारा जीव प्रदेशों का कम्पन [हलन चलन] होता है जब कुछ बोलता है तब इसकी जीभ [रसना] के द्वारा जीव प्रदेशों का परिस्पन्द [हलन चलन] होता है; जब उठने रखने आने जाने आदि की शरीर से कोई क्रिया करता है उस समय शरीर के द्वारा जीव प्रदेशोंका हलन चलन होता है इस मन, वचन, शरीर की क्रिया से आत्मा में कम्पन [हरकत] होता है क्योंकि शरीर धारी आत्मा तिल में तेल की तरह शरीर में ही तो है मानसिक, वाचनिक; शारीरिक

हलन चलन होना एक स्वाभाविक बात है। यह हलन चलन ही आत्माकी योग शक्ति है।

आत्मा की यह क्रियात्मक योग शक्ति ही अपने समीप के कार्माण स्कन्धों को अपनी ओर खींच लेती है।

इसके सिवा आत्मामें एक वैभाविक शक्ति है जिसके कारण आत्मा कार्माण स्कन्धों के मिश्रण होने पर वह विकृत हो जाता है।

तदनुसार वे आकर्षित [कशिश किये हुए] कार्माण स्कन्ध आत्म-प्रदेशों के साथ दूध पानी के समान मिल जाते हैं।

फिर क्या होता है ?

जिस प्रकार मुख से निकला हुआ व्याख्यान बातचीत या गाने के शब्द रेकार्ड में पकडे जाते हैं अतः धीमें तेज मध्यम आदि ढंगसे बोले गये शब्द उसी प्रकार वे रिकार्ड में आ जाते हैं। इसी तरह कार्माण स्कन्धों को अपनी योग शक्ति से आकर्षण करते समय आत्मा के जैसे मानसिक विचार वचन या शरीर क्रिया होती है क्रोध; मान घृणा; प्रेम द्वेष लोभ छल आदि भावों की तीव्रता, मन्दता [कमीवेशी] आदि के कारण आत्मा जैसी क्रियाओं में होता है उन आकर्षित कार्माण स्कन्धों पर भी वैसाही प्रभाव अंकित हो जाता है आत्मा की क्रिया यदि शुभ [भलाई रूप] रूप होती है तो उन कार्माण स्कन्धों में शुभ [हितकर] भाव अंकित होता है। यदि उस समय अशुभ [बुराई] आत्माके परिणाम [क्रिया] होते हैं तो उन कार्माण स्कन्धों पर स्वतः [अपने आप] अशुभ [दुखकर अहित करने] रूप प्रभाव [असर] अंकित हो जाता है।

इस तरह आत्मा के परिणामों के अनुसार अंकित वे कार्माण स्कन्ध आत्माके साथ जो घुलमिल जाते हैं वे ही फिर कर्म कहलाते हैं। ऐसी क्रिया कोही कर्म बन्ध भाग्यनिर्माण किस्मत बनाना आदि कहते हैं।

ये ही कर्म वह काम करते हैं जो अंगारे पर आई हुई राख; सूर्य के नीचे आये हुए बादल या पानी मिला हुआ कोई रंग काम करता है यानी— जिस तरह उस राख बादल, रंग से अंगारे की; सूर्यकी तथा

पानीकी यथार्थ दशा [असली रूप] छिप जाती है। उसी तरह कर्मों से भी आत्माकी शुद्ध बुद्ध शांत निर्मल निश्चल निराकुल दशा विकृत हो जाती है।

तब क्या होता है ?

कर्मबन्ध हो जाने पर कुछ समय पीछे वह कर्म अपने प्रभावके या शक्तिके अनुसार उस आत्माको हित (सुख) अहित (दुख) रूप कर देता है। जैसे भंग; शराव पी लेने के कुछ समय पीछे उसका नशा चढकर ज्ञानको विगाड देता है जब तक भंग का असर समाप्त नहीं हो जाता तब तक ज्ञानमें विकार भी बना रहता है। ठीक उसी तरह उस कर्म बन्धका नशा जब तक आत्मा पर छाया रहता है तबतक वह आत्माके गुणोंको अपने अंकित असर (प्रभाव) के अनुसार विकृत बनाये रखता है।

शराब या भंगके नशेके समय भंगेडू; शराबी मनुष्य ऊटपटांग; ऊलजलूल बकवाद करता रहता है; चाहे जहां आता जाता; गिरता पडता; लोटता रहता है उसे अपनी सुध बुध नहीं रहती; इसी कर्मके नशेमें आत्मा भी हंसता; रोता; क्रोध; लोभ; राग; द्वेष आदि करता, जैसी परिस्थिति (हालत) मिली उसके अनुसार अपने आपको समझता हुआ, सुख दुख आदिका अनुभव करता है उस कर्मके नशेमें अपनी असली दशाका बोध नहीं हो पाता।

रिकार्डमें जैसे शब्द भरे गये थे ग्रामोफोन की सुईकी नोंकसे छूते ही रिकार्ड से ठीक उसी तरहके शब्द निकलते हैं। इसी तरह जीवने अपने अच्छे, बुरे परिणामोंके अनुसार आकर्षित (खींचे हुए) कार्माण स्कन्धोंमें जैसा प्रभाव अंकित किया था बाहरी पदार्थोंके संसर्गसे ठीक वैसा ही परिणाम (फल) आ उपस्थित होता है। कर्मबन्ध करते समय यदि परोपकार के भाव हों तो कर्मोंमें सुखदायक प्रभाव होगा और वे कर्म अपना कार्य करते समय (नशा चढाते समय)फल देते समय सुख देने वाली परिस्थिति आत्मा के लिये करेंगे यदि कर्म बंध करते समय दूसरे व्यक्ति को हानि पहुंचानेके विचार; किये हों तो उस कर्मबन्ध में हानि-

कारक प्रभाव होगा और जिस समय उस कर्मका उदय होगा तो आत्मा को दुखदायक वातावरण मिलेगा।

सारांश यह है कि आत्मा अपने भावोंसे जैसे भी शुभ अशुभ कर्म उपार्जित करता (बान्धता) है उन कर्मोंका उदय अपने असरसे इस आत्माके द्वारा वैसे ही सुख दुख-दायक कार्य कराता है जिससे आत्मा को सुख, दुख होता है।

कर्म के भेद

कर्मके मूल दो भेद हैं—१—भावकर्म; २—द्रव्यकर्म।

आत्माके जिन राग, द्वेष, मोह, क्रोध, लोभ आदि भावोंके द्वारा कार्माण स्कन्धोंका आकर्षण होता है, आत्मा के उन भावोंको 'भावकर्म' कहते हैं।

जीवके उन विकृत भावोंसे जो कार्माण स्कन्ध आकर्षित होकर आत्माके साथ घुल मिल जाते हैं वे 'द्रव्यकर्म' कहलाते हैं।

भावकर्म संक्षेप से ५ तरह का है-१—मिथ्याश्रद्धा; २—अविरत (अनियन्त्रित आचरण); ३—प्रमाद (आत्मध्यानके सिवाय खान पान, सोना; बोलना; चलना आदि अनात्म कार्य), ४—कषाय (क्रोध मान; माया, लोभ स्थूल तथा सूक्ष्म रूपमें) और ५—योग (मन; वचन; शरीर की क्रिया)।

आत्माके इन ५ मार्गोंसे द्रव्यकर्म बनने योग्य कार्माण स्कन्धोंका आकर्षण हुआ करता है। आत्मा जिस समय स्व-उन्मुख होता है तब उसके भावोंमें सुधार होकर क्रमसे ये भावकर्म दूर होते जाते हैं जिससे द्रव्य कर्मोंकी शक्ति घटती जाती है। जबतक आत्माकी दृष्टि बाहरी पदार्थोंकी ओर ही बनी रहती है, तब तक कर्म बन्धके ये पांचों मार्ग खुले रहते हैं।

द्रव्य कर्म

आत्माकी योग शक्ति द्वारा आकर्षित कार्माण स्कन्ध जब आत्माके अंशोंमें घुल मिल जाते हैं तब उन कर्मोंमें ४ बातें प्रगट होती हैं १-तो उन आकर्षित कार्माण स्कन्धोंको आत्मामें दूध पानीकी तरह एक मेक होकर कर्मरूप होना। इसका नाम 'प्रदेशबन्ध' है। २-उन कर्मोंमें ज्ञान, दर्शन; सुख; शक्ति आदि गुणोंको आच्छादित (ढकने) अथवा विकृत करने का स्वभाव। इसका नाम 'प्रकृतिबन्ध' है। ३-उन कर्मों का आत्माके साथ बने रहनेकी काल-अवधि (मियाद) का होना, यानी-यह कर्म इतने समय तक आत्मा को प्रभावित करता रहेगा। इसका नाम स्थितिबन्ध है। ४--उस कर्म बन्धने आत्मा पर प्रभाव डालने की तीव्रता; मन्दता। यानी-आत्माके गुणोंको विकृत करनेकी शक्तिमें कमी बेशी का होना। इसका नाम 'अनुभाग बन्ध' है।

प्रकृतिबन्धके संक्षेपसे ८ भेद हैं।

१—ज्ञानावरण-आत्माके ज्ञान गुण पर आवरण (पर्दा) डालने वाला कर्म 'ज्ञानावरण' है। ज्ञान विकास करने वाले कामोंमें रुकावट डालनेसे बाधा उत्पन्न करनेसे ज्ञानावरण कर्म बंधता है।

जैसे किसीके पढने लिखने में विघ्न करना, विद्यालयों को तोड देना; पुस्तक फाड देना; फेंक देना, अपने ज्ञानका अभिमान करना, अपने आश्रित बाल बच्चोंको न पढाना; किसीके धर्म उपदेश शास्त्र स्वाध्याय को रोक देना, किसीमें ज्ञानकी कमी देखकर उपहास करना आदि कार्य करनेसे ज्ञानावरण कर्मका बन्ध होता है। इनसे विपरीत (उलटे विद्या प्रचारके, ज्ञान बढानेके कार्य) करने से ज्ञानावरण कर्मका बल घटता है यानी-ज्ञान गुणका विकास होता है।

जब तक यह कर्म रहता है आत्मामें ज्ञानका पूर्ण विकास (एक साथ समस्त पदार्थ—तीन कालवर्ती सब बातें-जाननेकी शक्ति) नहीं होने पाता, ज्ञान में कमी बनी रहती है।

जगतमें मूर्ख; विद्वान अल्पज्ञानी अधिकज्ञानी आदि ज्ञान-सम्बन्धी

भेदभाव इसी ज्ञानावरण कर्मकी कमी वेशीके कारण दीख पडता है।

२—'दर्शनावरण'-जो आत्माके दर्शन (ज्ञान सरीखा किन्तु ज्ञानसे भिन्न एक चैतन्यरूप गुण) गुण का आच्छादन करे।

दर्शनके प्रतिबन्धक (रुकावट डालने वाले) कार्य करनेसे यह कर्म बना करता है। उनसे उलटे अच्छे काम करनेसे दर्शन गुणका विकास होता है। जब तक यह कर्म बना रहता है दर्शन गुण पूर्ण विकासत नहीं हो पाता।

३—'वेदनीय'-जो आत्माको सुख (इन्द्रियजन्य) तथा दुखका वेदन कराता है।

इसके दो भेद हैं 'साता' और असाता। सुखका वेदन कराने वाला साता वेदनीय है; दुखका वेदन करानेवाला असाता वेदनीय है।

दूसरे को सताना, कष्ट देना; आत्मघात करना, दुख शोक करना, रोना, पछताना आदि निज-परको दुखदायक काम करना असाता वेद-नीय कर्म के कारण हैं।

स्वयं (खुद) प्रसन्न रहना, दूसरोंके कष्ट मिटाना; दुखी जीवोंकी सेवा सहायता करना; सबको सुख पहुंचाना, दान करना आदि कार्यों से साता वेदनीय कर्म बनता है।

साता वेदनीयके उदयसे सांसारिक, इन्द्रियजन्य सुख मिला करता है, निराकुल आत्मसुख नहीं मिलता। जब तक यह कर्म रहता है आत्मा पूर्ण निराकुल नहीं होने पाता।

४—मोहनीय-आत्माको सांसारिक धन्धोंमें मोहित करके अपने आपेसे (आत्माकी ओरसे) विमुख रखता है।

अपने आत्माके सिवाय जो भी सांसारिक पदार्थ-धन; मकान; पृथ्वी, पुत्र; स्त्री, मित्र; शत्रु आदि हैं उनमें किसीको अच्छा समझकर उससे प्रेम करना; किसीको बुरा समझकर उससे द्वेष (वैर, घृणा) करना मोहनीय कर्मके प्रभावसे होता है। मोह, क्षोभ; क्रोध, मान, माया; लोभ; भय, काम वासना आदि बातें मोहनीय कर्मके कारण होती हैं।

क्रोध; मान, माया; लोभ, रागद्वेष, घृणा, ईर्ष्या आदि करने से, असत्य देव; गुरु शास्त्र में श्रद्धा करना आदि बातों से मोहनीय कर्म बनता है।

कर्मबन्धका मूल कारण मोहनीय कर्म है क्योंकि इस कर्मके प्रभाव से ही कर्मबन्ध करने योग्य राग द्वेष मोह आदि भाव हुआ करते हैं। आत्मा यदि सांसारिक पदार्थोंसे मोह हटाकर राग द्वेषकी मात्रा कम करता जावे तो इस मोहनीय कर्मकी शक्ति क्षीण होती जाती है। जब तक यह कर्म रहता है आत्मामें निर्मल (पूर्ण शुद्ध) भावोंका पूर्ण विकास नहीं होने पाता इसी कारण तब तक आत्मा अपने स्वरूपमें स्थिर नहीं हो पाता।

५—आयु-अपने नियत समय तक शरीरमें आत्माको रोके रखता है। जैसे जेलमें कैदीको कैद कर दिया जाता है उसी तरह आयुकर्म मनुष्य; पशु, देव, नरक में से अपने उपार्जित किए हुए कर्मके अनुसार किसी एक शरीरमें आत्माको कैद कर देता है। उस शरीरका आयु कर्म जब तक रहता है तब तक आत्मा उस शरीरको छोडकर अन्य शरीरमें नहीं जा सकता।

आयुकर्मके ४ प्रकार हैं १-मनुष्य; २-देव; ३-तिर्यञ्च (एकेन्द्रिय; दोइन्द्रिय; तेइन्द्रिय; चारइन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय पशु) और ४-नरक।

शान्तभावसे रहना, अभिमान न करना, कोमल दयालु परिणाम रखना; मध्यम श्रेणीका आचरण रखना आदि कार्योंसे मनुष्य आयु कर्मका बन्ध होता है।

व्रत, तप, संयम करना, दान; परोपकार, उच्च श्रेणीके परिणाम रखने से देव आयु बन्धती है।

छल; झूठ, विश्वासघात आदि नीच परिणामोंसे तिर्यंच आयु बन्धती है।

हिंसा; चोरी आदि पापकृत्य करना; अत्यन्त लोभ; क्रोध करना,

अन्य जीवोंको दुख देना आदि जघन्य श्रेणीके कामोंसे नरक आयुका बंध होता है।

आयु कर्मके सर्वथा नष्ट हो जाने पर आत्माको फिर जन्म नहीं लेना पड़ता, अजर अमर हो जाता है।

६—'नामकर्म'—इस कर्मके कारण संसारी जीवोंका शरीर बना करता है। मनुष्य; पशु; पक्षी आदि समस्त जीवोंके शरीरोंमें जो सुन्दरता असुन्दरता आती है वह इस कर्मके कारण आया करती है।

नामकर्मके उत्तर भेद तो ९३ है किंतु मूल भेद दो ही हैं १-शुभ; २-अशुभ।

शुभ नाम कर्मके कारण अच्छा सुन्दर लोकप्रिय शरीर बनता है और अशुभ नाम कर्मके कारण बदसूरत; बेडौल, असुहावना शरीर बना करता है।

किसीके बेडौल, बदसूरत शरीर को देखकर उपहास (मखौल) न करना; अपनी सुन्दरताका अभिमान न करना; किसीकी सुन्दरता मिटाने का यत्न न करना; अन्य व्यक्तियोंकी सुन्दरताकी प्रशंसा करना आदि अच्छे कार्य करनेसे शुभ नामकर्म बन्धता है। यदि इन कामोंसे विपरीत बुरे काम किये जावें तो अशुभ नाम कर्म बधता है।

नाम कर्म जब तक रहता है तब तक आत्माको शरीर धारण करना पडता है जब यह कर्म समूल नष्ट हो जाता है तब आत्मा अपने असली सूक्ष्म (अमूर्तिक) रूपमें आ जाता है।

७—गोत्र कर्म-संसारमें जीवोंको जगतमान्य ऊंचे कुलमें अथवा लोकनिन्द्य नीचे कुलमें जन्म दिलाता है।

मनुष्योंमें जो कुलपरम्परासे शुभाचारके कारण उच्चता (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वंशोंकी) मानी जाती है तथा कुल परम्परासे (शूद्र, म्लेच्छ- चाण्डाल आदिकी) नीच आचरणके कारण नीचता मानी जाती है। इन ऊंच नीच कुलोंमें उत्पत्ति इस गोत्र कर्मके कारण होती है।

गोत्रकर्मके मूल दो भेद हैं—१-उच्च, २-नीच।

ऊंच कुलोंमें जन्म देने वाला उच्च गोत्र है। नीचकुलोंमें उत्पन्न कराने वाला कर्म नीच गोत्र होता है।

अपने उच्चकुल का गर्व न करना किसी नीच आदमीका अपमान न करना, नम्रता के साथ रहना उच्च श्रेणी का कार्य करना उच्च गोत्र के बन्धके कारण हैं और इनसे उलटे काम करनेसे नीचगोत्र बंधता है।

८—अन्तराय-कर्म हितकर कार्यमें विघ्न डाल दिया करता है। व्यापार खान पान भोग उपभोग शक्ति संचय आदि कार्योंमें जो विघ्न डालता है—रुकावटें पैदा होती हैं वह अन्तराय कर्मकी करतूति है।

दूसरों को हानी पहुंचाना किसी के काम में विघ्न डालना किसी का काम विगडता हुआ देखकर प्रसन्न होना दूसरोंके खान पान भोगोपभोग के पदार्थों को बिगाड देना किसीको दान देते हुए रोक देना आवश्यक होते हुए धन खर्च न करना दान न देना इत्यादि कर्म करने से अन्तराय कर्म का बन्ध होता है यदि इनसे उलटे अच्छे कार्य किये जावें तो धनसम्पत्ति बल भोग उपभोग की सामग्री प्राप्त होती है।

जब तक यह कर्म रहता है आत्माकी अनन्त सामर्थ्य प्रगट नहीं हो पाती।

कर्म संतान

आत्माके के राग द्वेष आदि भावों के कारण ज्ञानावरण मोहनीय आदि कर्म बन्धते हैं और कुछ समय बाद जब वे द्रव्य कर्म अपना उदय होने पर आत्माको प्रभावित करते है—आत्माको सुख दुख देते हैं तब उस परिस्थिति के अनुसार आत्माके राग द्वेष काम क्रोध आदि भाव होते हैं और उन भावोंसे द्रव्य कर्म बन्धते हैं। जब वे द्रव्य कर्म उदय आते हैं तब आत्मा के जो भाव होतें हैं उनसे अन्य द्रव्य कर्म बन्धते हैं। इस तरह भाव कर्म से द्रव्य कर्म, द्रव्य कर्म से भाव कर्म बन्धा करते हैं।

सोतें जागते चलते फिरते उठते बैठते खाते पीते आराम करते यानी किसी भी समय किसी भी दशामें आत्माके किसी न किसी तरहके परिणाम [विचार; वचन या काम] होते हैं उनसे आत्मामें हलन चलन

होकर कार्माण स्कन्धों का आकर्षण और आत्माके साथ उन आकर्षित कर्म स्कन्धों का मिश्रण होता रहता है। और पिछले समय में बन्ध किये किसी न किसी कर्म का उदय [फल मिलना] भी होता रहता है। अर्थात् प्रत्येक समय पुराने कर्मोंका उदय और नये कर्म का बन्ध होता रहता है।

कर्म बन्ध और कर्म उदय की परम्परा यह संसारी जीवोंमें सदासे (अनादि समय से) चली आरही है।

कर्मोंकी उलटन पलटन

जैसे एक मनुष्य विष या कोई अन्य हानिकारक पदार्थ खा लेता है तो वह विष कुछ समय पीछे मार देता है या शरीर में कोई रोग उत्पन्न कर देता है यदि उस मनुष्य को विष दूर करने वाली कोई औषध खिलादी जावे तो या तो वह विष अपना प्रभाव बिलकुल नहीं दे पाता या यदि उस विष का असर होता भी है तो बहुत थोडा। ऐसी ही वात कर्मों के विषय में है।

कर्म वन्ध हो जाने पर जीव यदि सावधान होकरअपने परिणाम [विचार वचन शारीरी क्रिया] बदल ले तो पहले बांधे हुए कर्मोंका प्रभाव बदल भी जाता है।

शुभ [सुखदायक] कर्म बांध लेने पर यदि पापकार्य जोर शोर से किये जावे तो वे वन्धे हुए शुभ कर्म अशुभ बन सकते हैं और यदि पहले अशुभ कर्म वन्ध किया हो उसके बाद दान, तप; संयम आदि अच्छे काम किये जावें तो वे अशुभ कर्म शुभ कर्मों के रूपमें बदल जाते हैं। [यह उलटन पलटन मूल आठ कर्मों में आयु कर्म की शाखाओंमें तथा मोहनीय कर्म के मूल भेदों—दर्शन मोहनीय-चारित्र मोहनीय में नहीं होती शेष सब कर्मों में हो सकती है—हुआ करती है] इसको 'संक्रमण' कहते हैं।

इसी तरह कर्मों की स्थिति अनुभाग में भी कमी वेशी हो जाया करती है। स्थिति अनुभाग के घटने को 'अपकर्षण' और उनके बढ़ने

को 'उत्कर्षण' कहते हैं।

कोई कर्म ऐसे भी होते हैं जिनमें किसी भी तरह रंचमात्रभी अंतर नहीं आने पाता।

शुभ कर्म, अशुभ कर्म

वास्तव में तो सभी कर्म अशुभ हैं। क्यों कि कर्मों के कारण जीव परतन्त्र बना हुआ है, उसकी शक्तियोंका पूर्ण विकास नहीं हो पाता किन्तु कुछ कर्म सांसारिक सुख देनेमें तथा आत्म उन्नतिमें सहायक होते हैं उस अपेक्षासे उन कर्मोंको शुभ या पुण्य कर्म कहते हैं और जिन कर्मों का फल सांसारिक सुख-दायक भी नहीं होता बल्कि दुख दाता हुवा करता है। वे अशुभ या पापकर्म माने गये हैं।

बन्धन और मुक्ति

जिसतरह जल वास्तवमें ठंडा होता है किन्तु अग्निके समागम से उसका ठंडा स्वभाव विगडकर गर्म हो जाता है यदि जलके समीपसे अग्निका संसर्ग हट जावे तो वह जल अपने स्वभावमें आकर ठंडा हो जाता है इसी तरह जीव वास्तवमें शुद्धबुद्ध निरंजन निर्विकार पूर्णज्ञाता अनन्तशक्ति सम्पन्न निराकुल है किन्तु पुद्गलीय कार्माण स्कन्धों के संसर्ग से जीवका स्वभाव विकृत हो गया है। उस विकारके कारण जीव में क्रोध राग द्वेष, मोह, अज्ञान आदि विभाव आगये हैं। जिससमय कर्मका संसर्ग जीव से दूर हो जाता है जीव अपने असली स्वभावमें आ जाता है।

जीव के इसी बन्धन और मुक्तिको स्पष्ट समझनेके लिये नीचे लिखे बातोंका जान लेना आवश्यक है—

१—जीव क्या है ?
२—उसको परतन्त्र वनाने वाला कौन है ?
३—जीव परतन्त्र किस तरह वनता है ?
४—जीवके बन्धन टूटनेका उपाय क्या है ?
५—बन्धनमुक्त हो जाने पर क्या होता है ?

इन जिज्ञासाओं का उत्तर यों है—

१—जीव एक ज्ञानचैतन्यरूप अमूर्तिक पदार्थ है।

२—जड पुद्गलकर्म उसे परतन्त्र बनाये हुए है।

३—कार्माण स्कन्धों के खिंचकर आने और जीवके प्रदेशोंके साथ एकमेक होनेसे जीव परतन्त्र बनता है।

४—कार्माण स्कन्धों का आना रुक जावे और पहले बांधे हुए कर्म आत्मासे छूटते जावें तो जीव का कर्म बन्धन टूट सकता है।

५—कर्म बन्धन टूटजाने पर जीव अजर अमर पूर्णसुखी, पूर्ण ज्ञानी पूर्ण शुद्ध हो जाता है।

इनही पांच बातों को सात तत्त्वोंके रूपमें जैनदर्शनने बतलाया है। पदार्थके स्वरूप (जो पदार्थ जैसा है उसी ढंगसे परिणमन करना) को तत्त्व कहते हैं। इसकारण देखा जाय तो जगतमें अनन्तों तरह के पदार्थ हैं तदनुसार अनन्तों तत्त्व हैं किन्तु जीवके बन्धन और मुक्ति को समझनेकी दृष्टि से तत्त्व सात ही उपयोगी या आवश्यक हैं।

सात तत्त्व

१—जीव,२—अजीव,३—आस्रव,४—बन्ध, ५—संवर,६—निर्जरा और,७—मोक्ष ये साततत्त्व कर्म बन्धनसे मुक्ति प्राप्त करने के लिये जानने आवश्यक हैं। संक्षेप से इनको यहां पर यों समझ लीजिये।

१—जो चैतन्यरूप है वह जीव है इसका स्पष्ट विवरण पीछे हो चुका है।

२—अजीव—जो ज्ञानशून्य है,जड रूप है। इसका वर्णन भी पीछे हो चुका है।

३—आस्रव-जीव में मानसिक विचार,बोलने या शारीरिक हलचल के कारण हलन चलन होती है उससमय जीव अपनी योगशक्ति द्वारा जो कार्माण स्कन्धोंका आकर्षण (कशीश—खींचना) करता है वह कार्माण—आकर्षण 'आस्रव' कहलाता है।

४—बन्ध—आकर्षण किये हुए कार्माण स्कन्ध जो आत्मा के प्रदेशों के

साथ घुलमिल कर कर्म रूप बन जाते हैं इस प्रक्रिया का नाम बन्ध है।

इस आस्रव और बन्ध का कारण मिथ्या श्रद्धा, स्वच्छन्द विहार (अविरति), असावधानी (प्रमाद), कषाय (क्रोधादि रूप कलुषित भाव) और योग (मन या वचन अथवा शरीरकी क्रिया) है।

५–संवर–कार्माण आकर्षण (आस्रव) का क्रमशः अंश रूपसे बन्द होते जाना 'संवर' है।

मिथ्याश्रद्धा आदि कार्माण आकर्षण (आस्रव) के कारण ज्यों ज्यों हटते जाते हैं त्यों त्यों सत्यश्रद्धा (सम्यग्दर्शन), सम्यक् आचार (गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, तप आदि) के विकसित होने से आस्रवकी मात्रा कम होती चली जाती है। इसीका नाम संवर है।

६—निर्जरा–अपनी गलती से जीवने जिन कर्मों को अपनी परतन्त्रता का कारण बना रखा है उन संचित हुए कर्मोंका आत्मा से छुटता जाना 'निर्जरा' है। अपना फल देकर तो कर्म आत्मा से अलग हो ही जाते हैं ऐसी निर्जरा प्रत्येक जीव के प्रतिक्षण हुआ ही करती है इस से आत्मा का कुछ विशेष लाभ नहीं।

तपश्चर्या (ध्यानआदि) के द्वारा कर्म अपना कुछ भी फल न देकर भी आत्मासे छूट जाते हैं यह 'सफल निर्जरा' है इसीसे आत्मा का लाभ होता है।

७–मोक्ष—संवर और निर्जरा के द्वारा जिससमय आत्माका कर्म–बन्धन पूर्णरूप से टूट जाता है, आत्माकी आकुलता सर्वथा दूर हो जाती है, आत्मा पूर्ण स्वतंत्र, निरंजन, निर्विकार हो जाता है वह मोक्ष है।

इन सात तत्त्वोंको ठीक तरह समझ लेने पर संसार और मोक्षकी समस्त प्रक्रिया समझ में आजाती है।

संसार मार्ग।

मनुष्य, देव, पशु, नरक इन चार गतियों में जन्म लेना, मरण करना यानी—चार गतियोंमें भ्रमण (आवागमन) करना इसका नाम संसार है। मनुष्य गति मध्यलोकके बहुतथोडे सीमित क्षेत्र—ढाईद्वीप में पाई जाती

है, देवगति मुख्यतः ऊर्ध्वलोकमें और कुछ अंशतः मध्य—लोक तथा अ-धोलोकके सबसे ऊपरी भागमें है। नरकगति केवल अधोलोक में है किन्तु पशुगति समस्त जगत (तीनोंलोकों) में है, सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव (निगोदिया) वायुके समान सब स्थानोंपर हैं। चौपाये पशु पक्षी आदि जानवर मध्यलोक में हैं।

आत्मा अपने स्वरूप का अनुभव, परिज्ञान और शुद्ध आचरण न करके शरीर, धन सम्पत्ति, परिवार, मित्र आदि पदार्थोंको अपना समझकर उनसे राग-प्रेम—मोह करता है और जो कोई इन पदार्थोंको हानि पहुंचानेका कुछ यत्न करता है उसको अपना शत्रु (दुश्मन) मानकर उससे क्रोध, घृणा करता है—उससे लडता है झगडता है, उसको हानि पहुंचाने का यत्न करता है। इसी राग और द्वेष के कारण संसारका सारा जंजाल जीवके सामने आता रहता है जीवन ऐसीही उधेडबुनमें समाप्त हो जाया करता है।

इस कारण संसारका मूल कारण यह मिथ्या श्रद्धा (शरीर धन, परिवार, मित्र आदि को अपना अनुभव करना) मिथ्याज्ञान (मिथ्या श्रद्धा के कारण किसी को अपना मित्र समझना और किसी को शत्रु समझना) तथा मिथ्या आचरण (मिथ्या श्रद्धा और मिथ्या ज्ञान के कारण शरीर को खिलाना पिलाना, पुत्र स्त्री, भाई आदि परिवार को पालन पोषण के लिये नौकरी आदि करना उपार्जन के लिये आकाश पाताल, दिनरात एक कर देना, इसके लिये हिंसा झूठ चोरी भी करना लड़ाई करना, मारना पीटना आदि कामोंका करना) है। इन तीनों को जैन सिद्धान्तमें मिथ्या दर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र कहा गया है। इनको मिथ्यात्व भी कहते हैं।

जीव की श्रद्धा ठीक हो जावे तो उसका ज्ञान आचरण भी स्वयं सुधर जाता है जैसेकि किसी मनुष्यको यह विश्वास हो जावे कि मेरे इस भोजन में विष मिला हुआ है तो वह उसको अपना प्राणघातक समझ लेगा और अपने जीवनको बचानेके लिये उसको न खावेगा।

इस कारण संसारका मूल कारण मिथ्यादर्शन (मिथ्याश्रद्धा) है। इसी मिथ्यादर्शनके कारण न तो आत्माका अनुभव हो पाता है, न अजीव, आ-

स्रव, बँध, संवर, निर्जरा, मोक्ष तत्त्वोंका यथार्थ विश्वास इस जीवके हृदयमें उत्पन्न होता है और इसी कारण इसका ज्ञान निज (अपने आत्मरूप) का तथा पर (शरीर, धन परिवार, मित्र आदि अन्य पदार्थों) का भेदविज्ञान कर पाता है तथा मिथ्यादर्शनके प्रभावसे ही इसका आचरण हिंसा, झूठ, चोरी, विषय सेवन, अभक्ष्य भक्षण आदि पापक्रियाओं के रूपमें प्रगट होता रहता है।

कषाय

मिथ्याचरित्रके मूल दो भेद हैं, अन्तरंग और बहिरंग।

अन्तरंग मिथ्याचारित्र 'कषाय' भाव कहलाता है और बहिरंग मिथ्याचारित्र को पाप कहते हैं।

जिनके कारण आत्मा दुख पाता है आत्माके वे भाव कषाय कहलाते हैं। कषायोंके संक्षिप्त मूल भेद चार हैं—१ क्रोध, २ मान, ३ माया और ४ लोभ।

अन्य व्यक्तिको अपना शत्रु समझकर उस पर अथवा अपनी इच्छा विरुद्ध कोई कार्य देखकर उस व्यक्ति पर रोष करना क्रोध कहलाता है।

अपने आपको बड़ा; दूसरेको छोटा समझकर अपने बड़प्पनको गर्व करना 'मान' कषाय है।

दूसरे को धोखा देकर अपना स्वार्थ सिद्ध करनेके अभिप्राय से मनमें विचार कुछ और रखना, मुखसे कुछ और बोलना और अपनी शारीरिक क्रियासे काम कुछ और ही करना यह 'माया' कषाय है।

अपने आत्माके सिवाय धन आदि अन्य पदार्थोंको अपना हितकारी मानकर उनके संचय करनेकी लालसा बनाये रखना 'लोभ' कषाय है।

इन कषायोंके अनेक उपभेद (हास्य, रति आदि नोकषाय) और अनेक श्रेणियां (अनन्तानुबन्धी आदि) हैं। इन कषायभावोंके कारण जीव स्व पर हानिकारक पाप कार्य करता है।

पाप

इस भव तथा परभव में जो निज परके लिये दुःखदायक 'काम' हैं उनको 'पाप' कहते हैं।

पापका मूल भेद केवल एक ही है 'हिंसा'।

निज-पर प्राणको मन, वचन शरीर से दुख देना हिंसा है।

हिंसाके मूल दो भेद हैं—भावहिंसा, द्रव्यहिंसा।

किसी अन्य जीवको अथवा स्वयं अपने आपको दुख देनेका विचार करना 'भावहिंसा' कहलाती है। अथवा रागद्वेष आदि द्वारा निज आत्मा के स्वभाव का घात करना "भाव हिंसा है।"

मारपीट आदि क्रिया द्वारा किसी अन्य को या निज को दुख देना 'द्रव्यहिंसा' है।

किसी भी तरह की हिंसा करते समय आत्मा के शांत परिणामोंका नाश अवश्य हुआ करता है क्योंकि ऐसा हुए विना हिंसा करनेका विचार हो ही नहीं सकता; इस कारण हरएक तरह की हिंसा के समय स्व-भावहिंसा (अपने आत्म परिणामोंका घात) तो होती ही है।

अपनी भावहिंसा के बाद यदि जीव अपने शरीरको कूट पीट डाले, अपना शिर फोड ले; हाथ पैर तोड ले; छत से कूद पडे; नदी कूएमें छलांग लगा लेवे; विष खा लेवे; आग लगा ले तो वह स्व—द्रव्य हिंसा है।

स्व—भाव हिंसा के बाद किसी अन्य जीवको मार पीट दे; लाठी तलवार, छुरी आदि से कत्ल कर दे, छत से धक्का दे देवे; नदी कुंए में ढकेल दे; विष दे देवे आदि कार्य करना 'परद्रव्यहिंसा' है।

गाली गलौज, निन्दा, अपमान; (बदनामी), कलह आदि करके किसीके हृदयको पीडा पहुंचाना 'पर-भावहिंसा' है।

इसके सिवाय हिंसाके चार भेद और भी हैं—

१—संकल्पी हिंसा; २—आरम्भी हिंसा; ३—उद्योगी हिंसा; और

४-विरोधी हिंसा।

जान बूझकर—संकल्प करके (इरादा से) किसी जीवको मारना संकल्पी हिंसा है।

गृहस्थाश्रमके काम काजमें (आटा आदि पीसने के लिये चक्की चलाना; रसोई बनाने आदिके लिये चूल्हा जलाना; चावल; दाल, मसाला आदि कूटना; स्थान साफ करनेके लिये बुहारी देना तथा नहाने; धोने आदि कार्यों में पानी बीटना, छिड़कना, फैलाना ये पांच तरह के काममें) यतनाचार पूर्वक क्रिया करते हुए भी जो चींटी, कीड़े मकोड़े आदि जीवोंका घात होजाता है वह सब आरम्भी हिंसा है।

खेती व्यापार आदि अर्थ-उपार्जन (धन कमाने) के कार्यों में हल चलाते समय वस्तुओंको उठाते, रखते समय जो कीडे मकोडे आदि जीवों का घात होता है उसको 'उद्योगी हिंसा' कहते हैं। यदि अनर्गल प्रवृत्ति होती है तो यह भी संकल्पी हिंसा होजाती है।

अपने शरीर; अपने परिवार; धर्म, धनसम्पत्ति आदिकी रक्षा करते समय चोर, डाकू, गुंडे, बदमाश या शत्रु से लडते हुए जो अपने या दूसरे के शरीर को घाव आदि हो जाने से अथवा मृत्यु हो जानेसे जो हिंसा होती है उसको 'विरोधी हिंसा' कहते हैं।

देवी देवताओंके प्रसन्न करनेके लिये; पुत्र पानेके विचारसे; राज्य; स्वर्ग आदि पानेकी इच्छासे; वर्षा कराने या अन्य किसी अनुष्ठानको कराते समय अथवा यज्ञ करते समय जो बकरा, गाय, बैल, घोडा; मुर्गा सूअर; मनुष्य आदि की बलि (कुर्बानी) की जाती है—तलवार छुरी आदिसे कत्ल करके देवी देवताओंके सामने भेंट की जाती है वह सब 'संकल्पी हिंसा' है इसको धर्म मानना सर्वथा उलटी बात है।

हिंसा पापके ही चार और उपभेद हैं—झूठ; चोरी; कुसील (काम सेवन) और परिग्रह। क्योंकि चारों कामोंमें भी अपने तथा दूसरे जीवों के हृदयको दुख पहुंचता है।

इस तरह हिंसा; झूठ; चोरी, कुशील और परिग्रह ये पांच पाप कहे

जाते हैं।

२—भूठ—जो बात जैसी देखी हो; जैसी सुनी हो, जैसी कही हो या जैसी मालूम हो उसको वैसी न कहना—और तरह कहना 'भूठ' है।

भूठ बोलनेसे दूसरे व्यक्तिको धोखा मिलता है जिससे उसको दुख पहुंचता है तथा अपने हृदय में भी खराबी आती है इस कारण यह पाप है।

इसके सिवाय ऐसे वचन बोलना जिससे दूसरे को दुख पहुंचे यद्यपि ज्यों की त्यों हो तो भी वे बातें भूठ में सम्मिलित हैं। अन्धे मनुष्यको अन्धा कहना यद्यपि वास्तविक है किन्तु यह शब्द कठोर है सुनने वालेके हृदयपर चोट करता है इसलिये ऐसे वचन भूठ समझने चाहिये।

तदनुसार किसीकी निन्दा करना; गाली देना; चुगली खाना मखौल उडाना आदि एसी बातें करना जिससे सुनने वालेका दिल दुखे; कलह; क्लेश फैल जावे वे सब बातें भूठ में सम्मिलित है।

तथा जिस सच बातके कहनेसे किसी जीवका प्राणनाश हो; मृत्यु दंड मिले या धर्मका घात होवे वे सब बातें भी भूठ ही है।

३—'चोरी'—किसी दूसरे व्यक्तिकी कोई वस्तु उसके बिना पूछे ले लेना; छिपा लेना; किसी दूसरे को दे देना; जेब काटकर; मकानमें सेंध लगाकर, ताला तोडकर; दूसरे को अचेत (बेहोश) करके अथवा बलपूर्वक (जबरदस्ती) रुपया पैसा आदि कोई भी वस्तु ले लेना धरोहर हडप जाना ये सब काम चोरी हैं। अथवा गिरी पडी वस्तु का उठाना भी चोरी है।

धन सम्पत्ति मनुष्यके बाहिरी प्राण हैं क्योंकि इसके कारण मनुष्य की जीवन यात्रा चलती है; इसी कारण मनुष्य धन सम्पत्ति के साथ अपने प्राणों जैसा मोह करता है। जब किसी की चोरी हो जाती है तब उसको इतना भारी दुख होता है कि जैसे उसका प्राण चला गया हो; कभी कभी तो चोरी हो जाने पर हृदय को इतना भारी धक्का लगता है कि मनुष्य पागल हो जाता है, हृदयकी धुकधुकी बंद हो जाती है (हार्ट-फेल हो जाता है)। इस कारण चोरी भी बडा पाप है।

४—कुशील-(व्यभिचार) किसीकी विवाहित स्त्री; विधवा; कुमारी; या वेश्याके साथ कामसेवन करना कुशील है। अथवा अपनी विवाहित स्त्री के अतिरिक्त अन्य स्त्री के प्रति खोटे भाव करना कुशील है।

प्रत्येक मनुष्य यह चाहता है कि मेरी स्त्री; बहिन; माता, पुत्री आदि को कोई भी आदमी बुरी दृष्टिसे न देखे, न देखे, न उनका अपमान करे और न उनका सतीत्व भंग करे। यदि कोई मनुष्य धनका लोभ देकर; मीठी बातोंमें फँसाकर या जबरदस्ती (बलात्कार) उसकी स्त्री-पुत्री आदि के साथ मैथुन करता है या उनके साथ हंसी मजाक करता है; उनका अंग स्पर्श करता है तो उस मनुष्य के हृदय को बहुत ठेस लगती है और वह उस अपमान का बदला लेने के लिये उसके प्राण लेने; अपने प्राण देनेके लिये तैयार हो जाता है।

राम-रावणका महायुद्ध सीताके अपहरण के कारण हुआ पांडव कौरवों का भीषण युद्ध (महाभारत) द्रोपदीका अपमान करनेके कारण हुआ। पृथ्वीराज द्वारा राजा जयचन्द की पुत्री संयुक्ता का अपहरण होनेके कारण जयचन्द ने पृथ्वीराजसे बदला लेनेके लिये शहाबुद्दीन गौरी की सहायता करके पृथ्वीराज को हराया और भारत देश को पराधीन बनाया। इस प्रकार संसारका जन संहार; देश-समाजका नाश इस कुशील सेवन से हो जाता है। अतः अनेक दृष्टिसे कुशील भी महापाप है।

५—परिग्रह—धन सम्पत्ति; वस्त्र; आभूषण; मकान; जमीन आदि पदार्थोंसे मोह करना; उनको अपना मानना, उनके एकत्र करनेमें रात दिन लगे रहना परिगृह है।

संसारमें मनुष्य जितनी भी दौड़धूप कररहे हैं वह प्रायः परिगृह-संचित करने के लिये हो रही है लोभके वश होकर मनुष्य शर्दी, गर्मी, वर्षा देश, विदेश, आकाश, जल, थल, पर्वत, जंगल के कष्टोंकी परवा न कर के सब जगह चक्कर काटता है, इस धन उपार्जन के लिये अनेक तरहके अन्याय, छलफरेब; झूठ विश्वास घात, हिंसा, चोरी; डकैती आदि सब

तरह के कार्य करता है, दूसरों की सेवा, चाकरी चापलूसी करता है, न करने योग्य कार्य करता है। 'दूसरा मरता हो तो मर जावे, नष्ट होता हो तो हो जावे, देश, समाज का पतन होता हो तो हो जावे किन्तु मेरी तिजोडी अवश्य भरे' ऐसी दूषित वासना, ऐसे गन्दे विचार इस परिगृह के ही कारण होते है।

वकील चाहता है कि लोग आपसमें लडें झगडें जिससे मेरा कार्य चले, डाक्टर चाहता है कि अनेक महामारी (प्लेग आदि आदि) फैलें जिससे मेरा भंडार भरे, अन्नका व्यापारी चाहता है कि अकाल पडजावे जिससे मैं मालामाल होजाऊं, बजाजकी इच्छा होती है कि कपासकी फसल खराब हो जावे जिससे कपडा महगा हो जावे, बडे कारखानोंके स्वामी चाहते हैं कि कोई युद्ध छिड जावे जिससे हम कोटिपति अरबपति हो जावें कुम्हार चाहता है कि वर्षा ऋतु में भी पानी न बरसे जिससे मिट्टी के वर्तन वेरोक टोक बनते रहैं।

नौकर मजदूर चाहते हैं कि हम काम कुछ न करें किन्तु तनखा हमको पहलसे अधिक मिले, मालिक चाहते है कि नौकर जी तोड कर काम खूब करें किन्तु तनखा थोंडी लें मिल मालिक चाहते हैं कि कम्यूनीष्ट (साम्यवादी) जडमूलसे मिट जावें और कम्यूनिष्ट संसारमें एक भी पूजीपति नहीं रहने देना चाहते। राजकर्मचारियोंमें रिश्वतखोरी व्यापारियोंमें चोर बाजारी फैलनेका कारण यह परिगृहकी ममता ही है।

अमेरिका की भावना है रूस, लाल चीन मिट जावें संसार पर मेरा प्रभाव स्थिर हो रूस चीन अमेरीका का तख्ता उलट देना चाहते हैं। जापान जर्मनीने अपनी प्रभुता फैलानेके लिये ही युद्ध छेडा था।

इसतरह संसारके कोने कोनेमें, प्रत्येक देशमें प्रत्येक जाति और वर्ग तथा व्यक्तिमें परिगृहका भूत नंगा नाचरहा है और एक दूसरेको हडप जानेका यत्न कर रहा है किसी को भी रंचमात्र सन्तोष नहीं।

इस कारण यह परिगृह पापका बाप है

धर्म

जिसके आचरण करने से जीव उन्नत होता है, अपने आत्मा में निर्मलता आती है सुखशान्ति प्राप्त होती है जो जीवमात्रको दुख न पहुचानेका उनपर दया करनेका आदेश दे वह धर्म है। अथवा निज स्वभाव में स्थिर होना धर्म है।

संसार के समस्त प्राणी एक समान हैं जैसे मनुष्य के शरीरमें सुई चुभनेसे पीडा होती है उसी तरह अन्य सब जीवोंको भी जो कि चाहे छोटे हों चाहे बडे, बोल सकते हों या न बोल सकते हों सुई चुभाने से दुखहोता है इस लिये मनुष्य जब अपने लिये कुछ कष्ट होना नहीं चाहता तब उसका कर्तव्य है कि वह दूसरों को भी कष्ट न दे। जो बातें मनुष्यको अपने लिये बुरी मालूम होती हैं वे काम मनुष्यको दूसरोंके लिये भी न करने चाहिये। यदि तुम स्वयं जीना चाहते हो तो तुम्हें चाहिये कि दूसरे प्राणियोंको भी जीने दो। ऐसा पवित्र विचार और क्रिया ही धर्म है।

जो धर्म केवल मनुष्य की रक्षाका उपदेश देते हैं, शेष बकरा गाय सूअर आदि पशुओं, मुर्गी, कबूतर आदि पक्षियों और मछली आदि जलचर जीवोंके मारखाने, बलि कुर्बानी, यज्ञ आदि के नामसे कत्ल करनेकी आज्ञा देते हैं वे धर्म नहीं कहे जा सकते वे धर्मका बाना (जामा-पोशाक) पहनकर मनुष्यको कुमार्ग पर लगाने वाले अधर्म हैं।

इस कारण प्राणीमात्रको सुख शान्ति पहुंचानेवाली सबकी रक्षा करने वाली अहिंसा ही यथार्थ धर्म है।

मनमें अपने तथा अन्य जीवको दुखपहुंचाने मारने का विचार न आने देना, वचनसे किसी को दुख देनेकी बात न कहना और शरीर से किसी को कष्ट न होने देना यानी मन, वचन शरीरसे हिंसा का त्याग करनाही अहिंसा है।

धर्मके भेद

आत्माके स्वभावको भी धर्म कहते हैं।

क्रोध करना आत्माका स्वभाव नहीं क्योंकि कोई भी जीव यदि क्रोध करे तो उसका क्रोधी भाव थोड़े ही समय तक रह सकता है. कुछसमय बाद उसको अपने आप शान्त होना पड़ेगा। शान्तदशामें कोई भी जीव जन्म भर आनन्द से रह सकता है—क्रोध करके नहीं। इस कारण क्षमा भाव आत्माका स्वभाव है अतः वह धर्म है। क्रोध भाव आत्माका धर्म नहीं हो सकता।

धर्मके १० भेद हैं

१-क्षमा, २-मार्दव, ३-आर्जव, ४-शौच, ५-सत्य, ६-संयम; ७-तप; ८-त्याग; ९-आकिंचन; १०-ब्रह्मचर्य।

क्षमा—क्रोधका त्याग करना क्षमा है। बलवान व्यक्ति के सामने भय से चुप रहजाने का नाम क्षमा नहीं है वह तो निर्बलता या कायरता है। यदि कोई अपने से निर्बल प्राणी कुछ हानि पहुंचावे या कोई अपशब्द कहदे उससमय उसको निर्बल समझ कर उस पर क्रोध न करे वीरता गंभीरतासे उसको क्षमा (मुआफ) करदे इसका नाम क्षमाधर्म है।

मार्दव—अभिमानका त्याग करके नम्रता का वर्ताव करना मार्दव धर्म है। मनुष्य अपने बल; धन; सौन्दर्य; ज्ञान; अधिकार (हुकूमत); कुल आदि का गर्व (घमंड) करके दूसरोंको अपनेसे नीच समझने लगते हैं जिसका परिणाम (फल) यह होता है कि जनता भी उनसे घृणा करने लगती है। संसार में एक से बढकर एक व्यक्ति सदा होते रहे हैं और जिस वस्तुका अभिमान किया जावे वह धन; बल आदि चीजें भी सदा स्थिर नहीं रहती अतः अभिमान करना व्यर्थ है भूल है और बहुत गलती है। जो व्यक्ति अपने धन; बल आदिका अभिमान नहीं करता नम्र बना रहता है वह व्यक्ति लोकप्रिय होता है।

आर्जव—छल; कपट; फरेब मक्कारी का त्याग करके सरल चित्त रहना आर्जव धर्म है। मीठीबातें कह कर मनमें कतरनी चलानेवाले व्यक्तीयों का हृदय बहुत मैला काला होता है वे पहले अपने आत्माको

धोखादेते हैं व पीछे दूसरे को धोखा देपाते है। ऐसे छली कपटी मनुष्य जनतामें विश्वासघाती माने जाते हैं उन पर किसी को विश्वास नही होता उनसे सब घृणा करते हैं। इसकारण; मन वचन शरीरकी क्रिया सरल-एक सी रखनी चाहिये।

शौच— लोभकपाय को परित्याग करके मनको पवित्र बनाना शौच धर्म है। जल; साबुन; उबटनद्वारा स्नान करनेसे शरीर तो कुछ देरके लिये साफ सुथरा स्वच्छ हो सकता है किन्तु आत्मा निर्मल नहीं हो सकता। हृदयको मैला बनाने वाला लोभ है। लोभी मनुष्यका मन सब तरह के बुरे विचारोंसे मलिन रहा करता है संसारमें ऐसा कोई भी बुरा काम नहीं जिसको कि लोभी जीव करनेके लिये तैयार न हो जावे। इस कारण आत्मामें शौच (पवित्रता) लानेके लिये लोभ का छोडना आवश्यक है।

सत्य— झूठ बोलनेका त्याग करना सत्यधर्म है। मनुष्य किसी भयसे, लोभसे; उपहास (मजाक) से या अन्य किसी स्वार्थ वश झूठ बोलकर दूसरे व्यक्ती को धोखा दिया करता है। इससे दो प्रकारकी हानियां होती हैं। एक तो झूठ बोलनेवालेका आत्मा भयभीत रहता है कि कहीं उसका झूट प्रगट न हो जावे इसके लिये उसे एक झूठी बात छिपानेके लिये अन्य सैकडों झूठी बातें बनानी पडती हैं। दूसरी हानि यह होती है कि जनतामें उसका विश्वास मारा जाता है; अतः उसका सन्मान नहीं रहता। सत्यवादी मनुष्यका हृदय सदा निर्भय; साफ रहता है। संसार उसका सन्मान करता है; सब कोई उसको आदर्श सच्चरित्र मानता है।

संयम—अपनी इन्द्रियों और मन पर नियंत्राण (कंट्रोल) करना संयम धर्म है। सारा संसार इन्द्रियोंका दास बन कर गुलामीका जीवन बिता रहाहै। इन्द्रियां अपनी विषयकामना पूर्ण करानेके लिये आत्माको अनेक तरह नचाती हैं; यदि इन्द्रियोंकी इच्छा तृप्त नहीं हो पाती तो आत्माको बहुत दुख होता है व्याकुलता होती है उस बेचैनी को दूर करने

के लिये आत्माको अनेक प्रकारके कृत्य अकृत्य करने पडते हैं।

यदि इन्द्रियोंकी इच्छाएं पूर्ण करदी जावें तो वे इच्छाएं अग्निमें घी पडनेकी तरह और अधिक बढती हैं।

इसप्रकार इन्द्रियोंकी गुलामी आत्माका उत्थान नही होने देती। न वह धर्म साधन करने देती है और न व्यवहारसाधनमें मनुष्यको आगे बढ़ने देती है। अतः आत्माको स्वतंत्र, शक्तिसम्पन्न ,पुरुपार्थी बनानेके लिये इन्द्रियों तथा मनको अपने नियन्त्रण (वश) में रखना चाहिये। इसका नाम इन्द्रिय संयम है।

पांच प्रकारके स्थावर प्राणियों तथा त्रसजीवोंकी रक्षाकरना अर्थात् हिंसा न करना प्राणी संयम है।

तप-जिसतरह सोनेका मैल तथा मिला हुआ खोट दूरकर सोनेको शुद्ध बनानेके लिये उसको अग्निमें तपाना आवश्यक होता है तभी वह पूर्ण शुद्ध हो पाता है इसीप्रकार आत्मा से कर्म मैल दूरकरके आत्माको पूर्ण शुद्ध बनानेकेलिये आत्माको ध्यान आदि तपों द्वारा तपाना आवश्यक है बिना तपस्या किये आत्मशुद्धि नहीं होती।

आत्मशुद्धिके लिये इच्छाओंको विपयभोगोंसे रोकना सो तप है।

जिस तपस्याका प्रभाव मुख्यरूपसे शरीर पर पडता है वह बहिरंग तप है। इसके ६ भेद हैं—

१—अनशन-इन्द्रियविपय तथा क्रोधादिकपायका त्याग करते हुये जो २४ घन्टे के लिये सब प्रकारका आहार पान छोडा जाता है सो अनशन है इसका दूसरा नाम उपवास है।

२—ऊनोदर-भूखसे कम भोजन करना।

३—वृत्तिपरिसंख्या-भोजन ग्रहण करनेके लिये किसी प्रकार का नियम ग्रहण करना।

४—रसपरित्याग-रस- आस्वादकी लालसा घटानेके लिये घी, तेल, दूध, दही, नमक; खांडमेंसे किसीका या सबका कुछ समयके लिये अथवा जीवन भरका त्याग करना।

५—विविक्त शयनासन-मानसिक स्थिरता तथा आत्मध्यान केलिये उपयोगी एकान्त स्थानमें रहना, सोना बैठना।

६—कायक्लेश-पद्मासन; खड्गासन; (खडेहोकर) आदि किसी आसनसे आत्मध्यान करना, पृथ्वी पर सोना आदि कार्योंमें होनेवाले शारीरिक कष्टको शान्तिसे सहना।

जिस तपस्याका प्रभाव मन तथा आत्मा पर विशेषरूपसे पडता है वह 'अन्तरंगतप' है। इसके भी ६ भेद हैं।

१—प्रायश्चित्त-अपने आचरणमें कोई त्रुटि होजाने पर उसके सुधारके लिये अपने गुरुसे या स्वयं उचित दंड ग्रहण करना जिससे आत्मग्लानि दूर जावे प्रायश्चित्त है।

२—विनय-यथार्थ श्रद्धा (सम्यग्दर्शन) सत्यज्ञान (सम्यग्ज्ञान) सच्चारित्रका आदर से निर्दोष पालन करना, देव; गुरु, शास्त्र आदि का नम्रतापूर्वक उचित आदर सत्कार करना।

३—वैयावृत्य-रोगी; बाल; वृद्ध साधु की तथा अन्य किसी दुःखी जीवकी सेवा करना।

४—स्वाध्याय-अपना और परका भेद ज्ञान बढानेके लिये अच्छे ग्रन्थों का पढना, सुनना; धर्म उपदेश देना आदि।

५—व्युत्सर्ग-शरीर आदि पदार्थोंसे मोह भाव छोडना।

६—ध्यान-किसी एक विषय पर मनका स्थिर करना यानी मनकी वृत्ति अन्य सब तरफसे हटाकर एक ही विषय पर लगाना ध्यान है। ध्यानके चार प्रकार हैं—

१—आर्त ध्यान, २- रौद्रध्यान, ३- धर्मध्यान; ४-शुक्लध्यान, पुत्र; मित्र, स्त्री आदि प्रियवस्तुके वियोग (बिछुड जाने; मर जाने) हो जाने पर, दुखी विचार, दुष्ट स्त्री, कुपुत्र कुमित्र, शत्रु आदिके समागम होनेपर उनसे छुटकारा पानेकी चिन्तारूप ध्यान, शरीरमें कोई रोग, पीडा होने पर दुःखी परिणाम होना, धन, पुत्र स्त्री; वैभव आदि मिलने केलिये मनसूबे बांधते रहना आदि दुःखभरे विचारोंमें मनका लगाये रहना

'आर्तध्यान' है।

रौद्रध्यान–किसी प्राणीके मारने काटने शिकार खेलने दूसरोंको लडाने आदि हिंसक कार्योंमें मगन रहना झूठ बोलने विश्वासघात करने, धोखादेने आदिमें प्रसन्न रहना, चोरी करने,जेब काटने, सफाई से दूसरे का माल उडाने आदिमें आनंदित रहना तथा रातदिन धन एकत्र करने परिग्रहसंग्रह करनेमें लगे रहना 'रौद्रध्यान' है।

धर्मध्यान–धार्मिकप्रचारके, दुःखी जीवोंके दुःख दूर होनेके, पापियों के पाप दूर होजानेके, सौभाग्यसे सुख मिलने दुर्भाग्यसे तरह तरहके दुःख मिलने आदि कर्मचक्रका विचारकरने आदि शुभ विचारोंमें मन-को रोकना धर्मध्यान है।

शुक्लध्यान—संसारके समस्त पदार्थोंसे रागद्वेष छोडकर संसारके समस्त संकल्प विकल्पोंका त्यागकर याना बाहरकी ओरसे मनको मोड कर अपने आत्मध्यानमें लीन होजाना शुक्लध्यान है।

इन चारों ध्यानोंमें से आर्तध्यान, रौद्रध्यानसे कर्मबन्धन दृढ होता है संसारचक्रका चक्कर तेज होता है। धर्मध्यानसे कर्मबन्धन ढीला पडता है, कर्मनिर्जरा होती है। शुक्लध्यानसे अल्पसमयमें विपुल कर्म नाश होना प्रारम्भ होजाता है। अन्तरमुहूर्त (दो तीन सैकिंड)में पहले शुक्लध्यानसे मोहनीय कर्म नष्ट होजाता है। और उसके पीछे दूसरे शुक्लध्यानसे अन्तमुहूर्तमें ही ज्ञानावरण दर्शनावरण अन्तरायकर्मका सर्वथा क्षय करके ध्यान करने वाला आत्मा सर्वज्ञाता सर्वदृष्टा, पूर्ण-सुखी; अनन्तबली जीवन्मुक्त बन जाता है। उससमय उसके पवित्र दिव्य-उपदेशसे संसारके प्राणियोंको मुक्तिके मार्गका ज्ञान होता है आत्मशुद्धिके उपायका कथन होता है; संसारके भूले भटके जीव सन्मार्गपर लगते हैं। तीसरा शुक्लध्यान होनेपर सब क्रियाओंका निरोध होता है। अन्तमें चौथे शुक्लध्यानसे शेष चारों कर्मोंका पूर्ण क्षय करके पूर्णमुक्त होजाता है।

त्याग—त्याग का अर्थ छोडना है। तदनुसार आत्माका वास्तविक त्याग तो अपने मोहपरिणामोंका छोडना है क्योंकि मोह परिणामों के छूट जानेपर सब कुछ छूटजाता है किंतु जो व्यक्ति गृहस्थाश्रममें रहते हैं उनसे मोहभाव छूटना कठिन है ऐसे व्यक्तियोंके लिये त्यागका अभिप्राय धनका त्याग यानी 'दान' लिया जाता है।

दान पानेके अधिकारी या तो वे व्यक्ति हैं जिन्होंने गृहस्थाश्रमसे सम्पर्क छोड दिया है, जो साधु या उनसे नीची श्रेणीके धार्मिक, त्यागी बन चुके हैं जिन्होंने अपनी आजीविकाके लिये व्यापार नौकरी आदि करना छोड दिया है, जो सदा आत्मचिन्तन, आत्मनिरीक्षणमें तथा धर्म उपदेशद्वारा लोक कल्याणमें अपना समय लगाते हैं।

अथवा दान उन व्यक्तियों को देना चाहिये जो दीन हीन दुखी, अपांग अनाथ, दरिद्र हैं, जिनका जीवन अनेक चिन्ताओं,व्यथाओंसे जर्जरित है।

साधु, त्यागी पुरुषों को नम्रता पूर्वक भक्ति से दानदेना चाहिये और दीन दुखी जीवोंको करुणा भावसे दान देना चाहिये।

दान चार प्रकार का होना उचित है—१—ज्ञानदान, २—औषध दान ३—अभयदान, ४— आहार दान।

दूसरोंको पढाना लिखाना, पुस्तकें देना,विद्यालय पुस्तकालय खोलना उपदेशदेना, विद्याप्रचार करना, छात्रवृत्ति (स्कालार्शिप देना आदि) ज्ञान दान है।

रोगी लोगोंकी सेवा करना, उनको औषध (दवा) देना, औषधालय खोलना, दूसरोंको चिकित्सा(इलाज)तथा औषध बताना, व्यायामशाला खोलना आदि रोग दूरकरनेके साधनोंका लोककल्याण के लिये जुटाना औषधदान है।

भयभीत जीवोंका भय मिटाना, कष्टमें फंसे हुए जीवोंका कष्ट मिटाना, किसीके द्वारा सताये जाने वाले जीवकी रक्षा करना, भयानक अन्धेरे स्थानमें रातके समय प्रकाश कर देना, स्वयंसेवक बनकर अथवा पहरे दारों की व्यवस्था करके जनता को निर्भय करना आदि अभय दान

है।

अतिथियों को विधि पूर्वक आहार देना; भूखे व्यक्तिको भोजन देना दीन विधवाओं के घर चुप चाप अन्न पहुंचा देना, अनाथ बच्चों के खानपानकी व्यवस्था कर देना; निराश्रित परदेशी व्यक्ति की भोजनव्यवस्था कर देना दरिद्र लोगों को सस्ते भाव पर अनाज देना आदि आहार दान है।

कुछ ऐसे लज्जाशील साधारण स्थितिके (सफेदपोश) व्यक्ति होते हैं जो किसी आजीविकाके टूट जाने, नौकरी छुटजाने अथवा थोडी आय और बडे परिवार के बडे खर्च के कारण बहुत तंग होते हैं किन्तु लज्जा संकोच के कारण दूसरे के सामने हाथ भी नहीं संसार सकते ऐसे स्त्री पुरुषोंकी भी गुप्तरूपसे यथोचित सहायता अवश्य करनी चाहिये तथा उनकी आजीविका का प्रबन्ध करदेना चाहिये।

आकिंचन्य—निज आत्माके सिवाय संसारका अन्य कोई भी पदार्थ अपना नहीं है इस प्रकार का विचार और आचार आकिंचन्य धर्म है। यानी -सांसारिक पदार्थोंसे, मित्र स्त्री पुत्र आदि परिवार से राग भाव छोड कर आत्मकल्याण में तप्तर होना आकिंचन्य धर्म है किंचनका अर्थ कुछ है, अकिंचन का अर्थ है,कुछ नहीं 'इस अकिचन रूप भावको' आकिंचन्य (संसारमें अपना कुछ भी नहीं है) कहते हैं। अर्थात् समस्त परिग्रह से विरक्त होना ही आकिंचन्य है।

ब्रह्मचर्य— विषयवासना से विरक्त होकर अपने ब्रह्म (आत्मा) में चर्या (आचरण) करना ब्रह्मचर्य है पशु ही क्या मनुष्य भी कामवासना का शिकार होकर अपना विवेक (कृत्य-अकृत्य का ज्ञान) खोबैठता है। वैसे तो पशु प्राय: मनुष्यसे अधिक ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं. सिंह आदि उच्च कोटिके पशु वर्ष में केवल एक वार मैथुन सेवन करते हैं, सांड गायके रजस्वला होने पर ही कामक्रीडा करता है कुत्ते बिल्ली आदि निम्नश्रेणीके पशु भी प्राय: वर्षमें एक आध मास कामातुर हुआ करते हैं किन्तु जिस समय उनको विषयवेदना होती है उससमय वे उसकी पूर्तिके लिये इतने

अधीर हो जाते हैं कि उसके लिये अपने प्राण तक न्योछावर कर देते हैं। माता, बहिन, पुत्री का भेदभाव तो उन की दृष्टि में कुछ है ही नहीं इसी समतादृष्टिद्वारा देखने-व्यवहारद्वारा यथेच्छ मैथुन करने के कारण उनको 'पशु' कहा जाता है।

किन्तु ज्ञान और सभ्यताका भंडार यह मनुष्य इतना विवेक तो अवश्य रखता है कि अपनी विषयकामना गुप्त-प्रच्छन्नरूपसे तृप्त किया करता है-उसका सार्वजनिक रूपसे प्रदर्शन नहीं किया करता किन्तु एक तो यह पशुओंसे भी अधिक असंयमी (सीमारहित वेहद मैथुन सेवी) है, रजस्वला अरजस्वला, रुग्णता नीरोगता, निर्बलता, अनिच्छा लघुवय, अधिकवय, दिन, रात आदिका विचार नहीं करता स्त्री और पुरुषोंके बढती हुई संख्यामें राजयक्ष्मा (तपेदिक) का शिकार होनेका एक विशेष कारण यह अन्धाधुन्ध कामसेवन भी है। दूसरे शराब आदि के नशेमें या विना नशेके भी कुछ कामके कीडे जघन्य श्रेणीके (दुराचारकी अपेक्षा शिक्षा या धनकी अपेक्षा नहीं) मनुष्य कामातुर होकर स्त्री वहिन पुत्री आदि सीमाको भी तोड देते हैं।

इस तरह यह कामवासना आत्माका बहुत पतन करदेती है इस कारण मैथुनसेवन त्याग 'ब्रह्मचर्य' धर्म माना गया है।

ये दश तरह के नियम-आचरण आत्मस्वभावका विकास करने वाले हैं-आत्मउत्थानमें परमसहायक हैं अतः इनको धर्म कहा जाता है।

रत्नत्रय

संसारमें श्रेष्ठ पदार्थ को 'रत्न' विशेषण लगाकर व्यवहार करते हैं। जिसतरह श्रेष्ठगुणी मनुष्य को नररत्न कहते हैं।

तदनुसार आत्माका उत्थान (उन्नति) करने वाले तीन गुण हैं— १ सम्यग्दर्शन, १—सम्यग्ज्ञान, ३—सम्यक्चारित्र। अतः इन तीनों गुणों को रत्नत्रय कहते हैं।

सम्यग्दर्शन जैनदर्शनका एक पारिभाषिक शब्द है। इस शब्दमें दर्शन

शब्दका अर्थ श्रद्धा (विश्वास श्रद्धान) लिया गया है सम्यक् शब्द का अर्थ यथार्थ सही या ठीक किया गया है।

यानी—आत्मा की अनुभूति (अनुभव को रोकने वाले दर्शन मोहनीय तथा उसके सहचर (साथ रहने वाले) चारित्रमोहनीय कर्म (अनन्तानुबन्धी कषाय) के हट(नाश हो) जाने पर या दब(उपशमहो) जाने पर जो आत्मा का अनुभव होता है उसका नाम सम्यग्दर्शन है उस आत्मा-अनुभव से जो आत्मामें उल्लास-आनंद होता है उसको कहा या लिखा नहीं जा सकता जिसतरह कि सुख दुख रूप अन्य अनुभवोंको कोई भी व्यक्ति बतला नहीं सकता। परीक्षामें पास होनेका क्या आनंद होता है और अनुत्तीर्ण (फेल) होजानेका क्या दुख होता है इस बातको न तो अक्षरों द्वारा कोई लिख सकता है और न शब्दों द्वारा कहसकता है क्योंकि वह तो अनुभवकी वस्तु है।

इसी तरह सम्यग्दर्शन भी एक अनिर्वचनीय (न कहा जा सकने वाला) गुण है वह तो जिसको प्रगट होता है उसीके अनुभवकी वस्तु है किन्तु सम्यग्दर्शन हो जानेपर जीवको जैसी परिणति हो जाती है उसके जो बाहरी चिन्ह प्रगट होते हैं उसके अनुसार सम्यग्दर्शन का स्वरूपसमझनेके लिये उन चिन्होंको सम्यग्दर्शन का लक्षण कहा जाता है।

तदनुसार—जीव अजीव आदि साततत्त्वोंका यथार्थ विश्वास होना सम्यग्दर्शन है।

जिस व्यक्तिको आत्माकी अनुभूति हो जाती है उसको शरीर आदि सभी जडद्रव्य आत्मा से भिन्न अनुभवमें आजाते हैं कर्म आकर्षण और कर्म बन्ध हेय(छोडने योग्य) और संवर निर्जरा उपादेय (हितकर ग्रहण करने योग्य) प्रतीत होने लगती हैं एव कर्मक्षयरूप मोक्ष उसका लक्ष्य-आदर्श बन जाता है। इस तरह सम्यग्दर्शन हो जानेपर सम्यग्दृष्टि जीवको सातों तत्त्वोंकी सची श्रद्धा प्रगट होजाती है। यदि कोई सम्यग्दृष्टि(तिर्यंच आदि) उन तत्त्वोंका नाम न जानता हो तो भी इनका अभिप्राय समझता है।

सम्यग्दर्शनका अन्य लक्षण

सच्चे देव सच्चे शास्त्र सच्चे गुरु का अटलश्रद्धान होना सम्यग्दर्शन है।

इसका अभिप्राय भी यह है कि जिसको आत्मा की अनुभूति हो जाती है उसकी परिणति संसारसे विरक्तरूप हो जाती है। अतः जहांसे उसको रागभाव कम होनेकी शिक्षा प्राप्त होती है उसके लिये वही पूज्य आराध्य—सेवनीय और अनुकरणीय होता है। सांसारिक रागकी मात्रा हटाने की शिक्षा सम्यग्दृष्टि को सच्चे देव (अर्हन्त भगवान) से, सच्चे शास्त्र (अर्हन्त भगवान के उपदेशानुसार बने हुए शास्त्र)से तथा सच्चे गुरु (संसार, विषय भोगों से निः स्पृह साधु) से ही प्राप्त होती है। अतः उसका मस्तक उनके ही सामने झुकता है, उनको ही वह संसार से पार करने वाला मानता है, इस लिये उनको ही आराध्य मानकर उनकी भक्तिपूजा में ही अपना कल्याण मानता है। सच्चे देव, सच्चे शास्त्र, सच्चे गुरु के उस अटल श्रद्धान से संसार का कोई भी भय, शक्ति या प्रलोभन उसको नहीं डिगा सकता अतः सच्चे देव; शास्त्र गुरुका श्रद्धान भी सम्यग्दर्शन है।

सच्चा देव

जो वीतराग, सर्वज्ञ तथा हित-उपदेशक हो वह सच्चा देव है।

जो राग, द्वेष, मोह, भय, चिन्ता, पीडा जन्म, मरण, बुढापा, भूख, प्यास, आश्चर्य, खेद (थकावट) पसीना, रोग; शोक; गर्व, निद्रा इन दोषों से मुक्त हो। मोहनीय आदि घातीकर्मोंके क्षय हो जाने से जिसकी आत्मा में पूर्ण समता और पूर्ण निराकुलता प्रगट हुई हो, क्रोध मान माया लोभ, कामआदि समस्त विकारभावोंसे पूर्ण मुक्त हो वह वीतराग होता है।

ज्ञानके आवरक (रोकनेवाले) कर्मोंका नाश हो जानेसे जो पूर्ण ज्ञानी हो गया हो, भूत (पिछला बीता हुआ समय), भविष्यत (आगे आने वाले समय) तथा वर्तमान (मौजूद) के समस्त जगतवर्ती पदार्थोंको ठीक

स्पष्ट जानता हो- यानी -ऐसी कोई भी सूक्ष्म स्थूल रूपी अरूपी वस्तु नहीं जिसको वह न जानता हो वह सर्वज्ञ कहलाता है।

जो समस्त प्राणियोंको आत्म हितकर (भला करनेवाला) उपदेश दे उसको हित उपदेशक कहते हैं।

उपदेशमें खराबी दो कारणों से आया करती है एक तो ज्ञानकी कमीसे क्योंकि जिस बातकी जानकारी न हो उस विषयके उपदेशमें अजानकारी के कारण गलती हो सकती है। दूसरे-विकृतभावोंके कारण उपदेशमें गलती हुआकरती है, लोग प्रेमभावके कारण अथवा द्वेषभावसे, या भूख प्यास चिन्ता पीडा शोक नींद आदिके कारण कुछ का कुछ बोल सकते हैं इस कारण सही हितकारक उपदेश वही दे सकते हैं जो पूर्ण वीतराग हो और पूर्ण ज्ञानी हो।

अतः वीतरागता और सर्वज्ञता से यथार्थ वक्तापन (उपदेशोपन) प्रगट होता है। तदनुसार जो वीतराग सर्वज्ञ हितोपदेशी हो वही विश्वकल्याणकारी सच्चा देव हो सकता है उसको आप्त अर्हन्त जिनेन्द्र आदि अन्य अनेक नाम हैं।

सिद्ध

जो आठों कर्मोंका क्षय सिद्ध करके पूर्ण मुक्त हो जाते हैं वे सिद्ध हैं सिद्ध भी पूज्य देव हैं। सिद्धकी पूर्व अवस्था (जीवन्मुक्त केवल ज्ञानी) का नाम अर्हन्त है।

आत्मशुद्धि की अपेक्षा सिद्धका स्थान अर्हन्तसे उच्च है किन्तु सांसारिक जनता को लाभ अर्हन्त से ही होता है क्योंकि वे उपदेश देते हैं अतः कल्याण पाने की दृष्टि से अर्हन्त भगवानको प्रथम पद दिया गया है।

सच्चा शास्त्र

सच्चे देवका दिया हुआ उपदेश जिस ग्रन्थमें लिखा हो उसको सच्चा शास्त्र कहते हैं।

सच्चा देव सर्वज्ञाता और वीतराग होता है इसलिये उसके उपदेशमें

कोई भ्रम विपरीतता तथा संशय जनक बात नहीं होती इसकारण सच्चे शास्त्रकी किसीभी बातका कोई खंडन नहीं करसकता—गलत नहीं ठहरा सकता, उस शास्त्रकी पूर्वापर (आगे पीछे की) बातोंमे परस्पर विरोध नहीं हुआकरता कि कहीं तो हिंसा करना पाप लिखा हो और कहीं हिंसा करना अच्छा पुण्य भी बतला दिया हो, अच्छी तात्त्विक-सैद्धांतिक बातें जिसमें पाई जाती हों (व्यर्थकी बातें, तोता मैंना किस्सा जैसी बातें न भरी हों) जिसमें न केवल मनुष्यों के कल्याणकी बातें हों बल्कि समस्त मनुष्य पशु पक्षी आदि जीवों का भला करने वाला उपदेश हो तथा जिसके स्वाध्याय करने से मनुष्य का चित्त कुमार्गसे हटजावे।

शास्त्रमें ये सब बातें तबहीं हो सकती हैं जब कि वह सर्वज्ञवीतराग के उपदेश अनुसार बना होगा।

धार्मिक शास्त्र विषयभेद से चार प्रकार के हैं—

१—प्रथमानुयोग—जिन ग्रन्थों में २४ तीर्थंकर १२ चक्रवर्ती ६ नारायण ६ बलभद्र ६ प्रतिनारायण इन त्रेसठ शलाका पुरुषों (लोकप्रसिद्ध गणनीय महान पुरुषों) का तथा २४ कामदेव ६ नारद आदि का जीवन इतिहास लिखा होता है जिनको पढनेसे पाप पुण्य कर्मके फलोंका तथा आत्मीकसुख प्राप्त करने वालोंका दृष्टांत ज्ञात होता है वे प्रथमानुयोगके ग्रन्थ होते हैं जैसे आदि पुराण पद्मपुराण हरिवंशपुराण आदि।

२—करणानुयोग—जिन शास्त्रोंमें लोक अलोक कालपरिवर्तन तथा चारगतियां तथा कर्म सिद्धान्त का वर्णन लिखा होता है वे शास्त्र करणानुयोग के होते हैं। जैसे तिलोयपण्णत्ति त्रिलोकसार षटखंडागम कषाय पाहुड गोम्मटसार आदि।

३—चरणानुयोग—जिन ग्रन्थोंमें मुनिआचार गृहस्थआचार का विषय लिखा होता है वे चरणानुयोगके ग्रन्थ होते हैं। जैसे मूलाचार रत्नकरण्डश्रावकाचार आदि।

४—द्रव्यानुयोग—जिन शास्त्रों में जीव अजीव द्रव्य प्रमाण

नय और आध्यात्मिक विषयों का वर्णन होता है वे द्रव्यानुयोग के शास्त्र होते हैं। जैसे समयसार द्रव्यसंग्रह आदि।

सच्चा गुरु

जिसने संसार शरीर तथा विषयभोगोंसे विरक्त होकर समस्त आरम्भ (गृहस्थाश्रमका काम काज) और समस्त परिग्रह (धनवस्त्र मकान आदि वस्तु) का त्याग करदिया हो हिंसा झूठ चोरी विषय सेवन का पूर्ण त्याग करचुका हो जो साधु बनकर अपने आत्मध्यान ज्ञान अभ्यासमें लगारहता हो; जो न किसी को मित्र समझता हो और न किसीको शत्रु मानता हो वह सच्चा गुरु है।

सच्चे देवके बतलाये हुए परमार्थसाधन के मार्ग पर चलकर जो व्यक्ति धन जन परिवार से अपना सम्बन्ध तोडकर समस्त पाप कार्यों का त्याग कर जो साधु बन गया है और स्वयं वीतराग बननेका जो प्रयत्न करता है गाजा भंग आदि नहीं पीता अपने पास रुपया पैसा चीमटा मृग-छाल आदि नहीं रखता कोई कपडा भी नहीं पहनता अखंड ब्रह्मचर्य का पक्का पालन करने के कारण जिसकी इन्द्रियों में कामवासनाका विकार नहीं दीख पडता। उसके हृदयसे विषय कामना दूर हो चुकी है इस बातकी परीक्षा उसका छोटे बालक के समान निर्विकार नग्न शरीर देता है क्योंकि धोती लंगोटी आदि वस्त्र मनुष्य के कामविकार को छिपाने ढांकने का साधन है जिसमें यह ऐब न रहा हो उसका कपडा पहनने की कुछ आवश्य-कता नहीं।

इस प्रकार जो वीतरागताका उपासक है तथा जो वीतराग मार्ग का आचरण करता है और वीतराग मार्ग का प्रचार करता है। लोगोंको तंत्र मंत्र नहीं सिखाता न किसी को सट्टे दड़े के अंक बतलाता है शुद्ध निर्दोष आहार भी बहुत निःस्पृहताके साथ ग्रहण करता है वह सच्चा गुरु है

उस गुरु के तीन पद हैं—१ आचार्य,—२ उपाध्याय, ३–साधु.

जो मुनिसंघके नायक होते हैं, मुनि दीक्षा देते हैं मुनियोंको प्राय-

श्चित्त देते हैं मुनिसंघकी व्यवस्था देखते हैं वे आचार्य होते हैं।

जो मुनिसंघमें अधिक ज्ञानी होते हैं, अन्य मुनि जिनसे ज्ञान अभ्यास करते हैं वे उपाध्याय होते हैं।

आचार्य और उपाध्याय के सिवाय शेष सब मुनि साधु कहलाते हैं।

परमेष्ठी

प्रकरण पाकर यहां इतना उल्लेख करना आवश्यक है कि—

अर्हन्त सिद्ध आचार्य उपाध्याय सर्व साधु (साधुओंमें कोई ऋद्धिधारक होते हैं, कोई विशिष्ट ज्ञानी होते हैं आदि सब प्रकारके साधुओं को ग्रहण करनेकी दृष्टि से सर्व साधु कहा जाता है) ये पांचों परमेष्ठी (पूज्य पद में स्थिर) कहलाते हैं।

इन सच्चे देव शास्त्र गुरुकी श्रद्धा जब मनुष्यके हृदय में दृढता से जम जाती है—किसी भय, प्रलोभन, देखादेखी आदि से अन्य देव शास्त्र गुरुको आराध्य पूज्य नहीं समझता है तब समझना चाहिये कि इस व्यक्ति को सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्ज्ञान

पदार्थों का स्वरूप ठीक जानना-न कम जानना-न यथार्थ स्वरूप से अधिक जानना-यानी पदार्थ जैसा है ठीक वैसा ही जानना सम्यग्ज्ञान है।

पदार्थोंको जानना ज्ञानका स्वभाव है किन्तु जबतक श्रद्धा गलत होती है तबतक ज्ञान भी गलत बना रहता है। जब श्रद्धा ठीक हो जाती है—सम्यग्दर्शन हो जाता है तब ज्ञान भी सच्चा जाना करता है।

जैसे जिस मनुष्यके हृदयमें यह गलत निराधार श्रद्धा बैठी हुई है कि ईश्वरने यह संसार बनाया है, वही इसको चलाता है, और इसका नाश भी वही करता है तो वह मनुष्य सभी बातोंके जाननेमें अपनी उस

श्रद्धा की छाया देखेगा। अगर वह भोजन करेगा तो समझेगा कि ईश्वरने भोजन कराया. यदि उससे कोई बुरा काम हो जायगा तो खयाल करेगा कि ईश्वर की ऐसी ही मर्जी थी, परीक्षामें पास होने, फेल होने आदि सभी कामोंमें ईश्वर प्रेरणाको मुख्य समझेगा। इस तरह गलत श्रद्धा (मिथ्यादर्शन) होनेके कारण उसका ज्ञान गलत (मिथ्याज्ञान) हो जाता है।

यदि वही मनुष्य संसारको वैज्ञानिक रूपसे स्वयं सिद्ध अकृत्रिम अनादि मानने लगे तो उसकी श्रद्धा ठीक हो जानेके कारण होनेवाले कार्योंमें ईश्वरका हाथ न मानकर अपने भाग्य तथा पुरुपार्थ को कारण मानने लगेगा और अपने विगाड सुधारका सही कारण अपने विचार; वचन और कार्योंको मानकर स्वयं अपना सुधार करने लगेगा।

इस तरह जब सम्यग्दर्शन हो जाता है तब ज्ञान सम्यग्ज्ञान अपने आप हो जाता है।

ज्ञान के भेद

वैसे तो ज्ञानके अनेक भेद हैं किन्तु मूल भेद ५ हैं—

१—मतिज्ञान, २—श्रुतज्ञान; ३—अवधिज्ञान, ४—मनपर्यय-ज्ञान और ५—केवलज्ञान।

इन्द्रियों तथा मन से जो ज्ञान होता है वह 'मतिज्ञान' है। छूने, चाखने, सूंघने, देखने, सुनने तथा विचारने से जो कुछ जाना जाता है सो सब मतिज्ञान हैं।

मतिज्ञानसे जाननेके बाद हिताहित का या किसी अन्य बातका जो कुछ ज्ञान होता है वह श्रुतज्ञान है।

इन्द्रियों और मनकी सहायता न लेकर केवल आत्मशक्ति से मूर्तिक (पुद्गलीय) पदार्थोंका जानना 'अवधिज्ञान' है। अवधिज्ञान वाला व्यक्ति अपने क्षयोपशम अनुसार बहुत दूरवर्ती पदार्थोंको तथा सीमित भूत भविष्यत की बातोंको भी जान लेता है। यह ज्ञान समस्त

देवों; नारकियों, तीर्थंकरोंको अवश्य होता है—तप आदि से मनुष्य, पशुओंको भी हो जाता है।

आत्मशक्ति से विना इन्द्रिय सहायताके दूसरेके मन की बात जानने वाला 'मनःपर्याय' ज्ञान है। यह ज्ञान किसी किसी मुनिको होता है।

ज्ञानावरण कर्मके नाश हो जाने पर तीन लोक तीनों कालकी बातको प्रत्यक्ष जानने वाला ज्ञान 'केवल ज्ञान' है। यह ज्ञान अर्हन्त, सिद्ध के होता है।

ज्ञान के अन्य भेद

प्रकारान्तरसे ज्ञानके दो भेद और हैं—१ प्रमाण २—नय।

पीछे कहे गये मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान तथा केवलज्ञान 'प्रमाण' कहलाते हैं।

पदार्थके किसी एक अंशको जानना नय है। जैसे जीवको गुणकी अपेक्षा से 'नित्य' जानना तथा पर्यायकी दृष्टिसे अनित्य जानना।

नयके मूल दो भेद हैं १—निश्चय, २—व्यवहार

पदार्थके यथार्थ (सत्य, खालिस) अंशको जानना अथवा अभेद-रूपसे जानना निश्चयनय है। जैसे जीव अमूर्तिक है, घडा मिट्टी का है आदि।

अन्य पदार्थके संयोगसे पदार्थ को विकृत रूपसे जानना या भेद करके जानना व्यवहारनय है। जैसे जीव मनुष्य, पशु देव रूप है, (ऐसा जानना शरीर की अपेक्षा से है), घडा पानी या घी का है (घडे में पानी भरने से या घी रखने से उसको पानी का या घी का कहा जाता है)। अथवा जीवके ज्ञान दर्शन सुख वीर्य आदिक गुण हैं जीव संसारी और मुक्त हैं।

कथन (कहना, वर्णन करना) किसी न किसी अपेक्षा (दृष्टि पौइन्ट ऑफ व्यू) से हुआ करता है अतः कहने रूप जो ज्ञानधारा है

वह नय है।

नयके नैगम, संग्रह, व्यवहार ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़. एवं भूत ये ७ भेद भी हैं। द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक भी नयके भेद हैं। निश्चय व व्यवहार भी नयके भेद हैं। सापेक्ष सुनय हैं जिनसे वस्तु का यथार्थ बोध होता है। निरपेक्ष दुर्नय हैं जिनसे वस्तु का विपरीत बोध होता है।

सम्यक् चारित्र

आत्माके दुर्भावोंका तथा हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुनसेवन और परिग्रह इन पांच पापोंका त्याग करना सम्यक् चारित्र है।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान हो जाने पर आत्मशुद्धि और कर्म निर्जराके लिये उन क्रियाओं का रोकना आवश्यक है जिन क्रियाओंसे कर्मबन्ध हुआ करता है वे क्रियायें हिंसा-असत्य भाषण आदि अव्रत या पाप तथा क्रोध आदि कषाय हैं। अतः पाप क्रियाओं और कषायों का त्यागकर देनेसे आत्मशुद्धि और कर्म निर्जरा होती है, इसी कषाय पाप क्रियाके त्यागका नाम सम्यक् चारित्र है।

सम्यग्दर्शन धर्मका बीजारोपण करता है यानी-सम्यग्दर्शन हुए विना हृदय में धर्म भावका उदय नहीं हो पाता।

सम्यग्ज्ञान संसारमें आत्माका यश (कीर्ति) फैलाता है.

सम्यक् चारित्रके कारण आत्मामें महत्ता-पूज्यता आती है।

जबतक सम्यक् चारित्रमें कमी रहती है आत्माकी सिद्धिमें कमी बनी रहती है।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक् चारित्र ये तीनों गुण आत्म उत्थानके प्रधान कारण हैं अतः इन तीनोंको आत्माका 'रत्नत्रय' कहते हैं। यह रत्नत्रय आत्माका स्वभाव है इसलिये रत्नत्रय भी धर्म है।

चारित्र—धर्म

सत् चारित्र (सदाचार) को भी धर्म माना गया है।

इसका अभिप्राय भी वही कुछ है जो कि धर्मके अन्य लक्षणों का है, क्योंकि चारित्र क्षमा, मार्दव; तप, संयम, आकिंचन्य ब्रह्मचर्य आदि रूप ही है, अतः चारित्र भी आत्माका स्वभाव है, चारित्र (सम्यक् चारित्र) ही कर्मक्षय रूप आत्माकी चरम एवं परम उन्नतिका निकटतम परम साधन है। अतः चारित्र को भी 'धर्म' कहना बिलकुल ठीक है।

चारित्रके भेद

आचरण रूप चारित्रके मूल दो भेद किये गये हैं—

१—सकल चारित्र, २—विकल (देश) चारित्र।

हिंसा, असत्य; चोरी; कामसेवन और परिग्रह इन पांचों पापों का पूर्णरूपसे त्याग करना सकल चारित्र है। तथा उन पाप कार्योंका पूर्णत्याग करनेकी शक्ति न होने पर स्थूल रूपसे पापोंका त्याग करना विकल या देश चारित्र है।

जो व्यक्ति गृहस्थाश्रमको छोडकर साधु दीक्षा ग्रहण करते हैं वे इन हिंसा आदि पांचों पापक्रियाओंका पूर्णरूपसे त्यागकर देते हैं; अतः उनके व्रतों को महाव्रत कहते हैं—उनके चारित्र को सकलचारित्र कहते हैं।

जो व्यक्ति उतना ऊंचा त्याग नहीं कर सकते गृहस्थाश्रम में रहते हैं वे हिंसा, झूठ; कामसेवन; परिग्रह आदिका पूर्णरूपसे त्याग नहीं कर सकते क्योंकि गृहस्थकार्योंमें आरम्भी आदि हिंसा करना, कुछ झूठ बोलना अपनी पत्नीके साथ कामसेवन करना अपने योग्य धन, घर, वस्त्र आभूषण आदि पदार्थोंका संचय करना ही पडता है, इसलिये उनके कुछ (संकल्पी हिंसा, परस्त्री सेवनका त्याग आदि रूपसे) त्याग होता है इस कारण गृहस्थों के व्रत अणुव्रत और गृहस्थका आचरण देश चारित्र कहलाता है।

साधु-चर्या

जो पुरुष संसार शरीर और विषयभोगोंसे इतना विरक्त होजावे कि उसका हृदय गृहस्थाश्रममें रंचमात्र भी न लगे और वह गृहस्थाश्रम के बन्धनमें क्षण भर भी न रहना चाहे वह मनुष्य घर बार कारोबार आदि सांसारिक कार्योंको छोडकर आचार्य से यदि आचार्य न हों तो श्री १००८ जिनेन्द्र प्रतिमाके समक्ष प्रतिज्ञा लेकर साधु दीक्षा ग्रहण करता है।

कुल जातिहीन; अंगहींन (लंगडा; अन्धा आदि) नपुंसक ऋण-ग्रस्त (कर्जदार) दरिद्र (अपना भरण पोषण न कर सकनेके कारण जो मुनि बनना चाहे); अपने परिवारको असहाय अवस्था में छोडने वाला आदि व्यक्ति साधु दीक्षा लेनेके लिये अपात्र माने गये हैं ऐसे मनुष्यों को साधु दीक्षा न देनी चाहिये। क्योंकि वे साधुपद का पालन निःशल्य (निश्चिन्त) रूपसे नहीं कर सकते।

महाव्रती साधु

साधुके मूलगुण २८ होते हैं जिनका संक्षिप्त विवरण निम्न-लिखित है।

५ महाव्रत; ५ समिति, ५ इन्द्रिय दमन, ६—आवश्यक कर्म तथा सात शेष गुण।

हिंसा, असत्य; चोरी; मैथुन और परिग्रह का पूर्ण रूपसे त्याग कर देना महाव्रत है। तदनुसार अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रह त्याग ये पांच महाव्रत हैं।

'अहिंसा महाव्रत'—त्रस तथा स्थावर जीवोंकी हिंसाका त्याग करना—'अहिंसा महाव्रत' है। गृहस्थाश्रमका परित्याग होजानेके कारण आरम्भी; उद्योगी; विरोधी तथा संकल्पी हिंसा साधुओंके द्वारा नहीं हुआ करती; पृथ्वी खोदना; जल बींटना; अग्नि जलाना; हवा करना फल; फूल, पत्र तोडना, खाना बनाना आदि कार्य भी साधु नहीं

किया करते। भोजन वे स्वयं बनाते नहीं गृहस्थों द्वारा बना हुआ अचित्त (प्रासुक—,निर्जीव) जल भी भोजन करते समय ही पीते हैं। तथा शौच (टट्टी पेशाब) के समय हाथ आदि धोने के लिये प्रासुक पानी अपने कमंडलु में ले लेते हैं अतः इनके द्वारा किसी भी कार्य में त्रस तथा स्थावर जीवोंकी हिंसा होजाने का कोई भी कार्य नहीं हुआ करता। इस कारण साधुओं का हिंसा त्याग अहिंसा महाव्रत कहलाता है।

'सत्य महाव्रत'—असत्य बोलने का सर्वथा त्यागकर देना सत्यमहाव्रत है। गृहस्थाश्रममें तो व्यापार आदि कार्यों के लिये कुछ झूठ बोलना पडता है किन्तु साधु अवस्थामें उसका भी त्याग हो जाता है अतः उनका व्रत सत्य महाव्रत है।

अचौर्य महाव्रत—मुनि महाराज जल, मिट्टी तिनकाजैसी वस्तुओं को भी उस वस्तु के स्वामी से बिना पूछे ग्रहण नही करते क्योंकि उनको किसी भी वस्तु की आवश्यकता नहीं अर्थात् प्रत्येक वस्तु की चोरी का त्याग साधुओंके हुआ करता है अतः उनको अचौर्य महाव्रत होता है।

ब्रह्मचर्य महाव्रत—समस्त स्त्रियोंसे मैथुनका त्याग करना ब्रह्मचर्य महाव्रत है मुनि अखंड ब्रह्मचारी रहते हैं वे शरीर से ही कामसेवन के त्यागी नहीं होते बल्कि अपने मनमें भी कामवासना नहीं आने देते अत एव नग्नरहते हुए उन की निर्विकार काम इन्द्रिय उनके मानसिक ब्रह्मचर्य की साक्षी देती है। इस कारण उनका ब्रह्मचर्य महाव्रतके रूप में होता है।

परिग्रहत्याग महाव्रत—धन मकान वस्त्र रुपया पैसा आदि समस्त परिग्रहको त्याग कर मुनि नग्न रहते हैं कभी भी वे धनसंचयकी चेष्टा नहीं करते अतः उनके परिग्रहत्याग महाव्रत होता है।

मुनियोंके पास केवल तीन वस्तुएं होती हैं—१ पीछी—जो मोरके पंखोंकी बनी हुई होती है (मोर जंगल में नाचते समय अपने कुछ पंख गिरा देता है उन पंखोंको बांध कर बुहारी के समान बनाकर गृहस्थ लोग वह पीछी मुनियोंको भेट कर देते है।) वह बहुत कोमल होती है अतः मुनि जहां बैठते है सोते हैं अपनी पुस्तक कमंडलु रखते हैं उस स्थानको पीछी

से बुहार लेते हैं जिससे उस स्थान पर यदि चीटी आदि क्षुद्र जीव जन्तु हों तो वे न रहने पावें जिससे उठते बैठते या कमंडलु पुस्तक उठाते रखते कोई जीव न मरने पावे।

मोरके पंखोंमें ऊन आदि की तरह किसी भी जीव जन्तु की उत्पत्ति नही होती अतः ऊन आदि की पीछो से अधिक यानी पूर्ण प्रासुक(जीव शून्य) मोरके पंखोंकी पीछी होती है। इस प्रकार जीवरक्षा के लिये पीछी मुनि रखते हैं।

२—लकडी या समुद्री नारियल का बना हुआ टोंटीदार जल भरनेका पात्र कमंडलु कहलाता है टट्टी पेशाब आदि के समय शौच के लिये मुनिको जल की आवश्यकता होती है गृहस्थ लोग कमंडलु मुनिको भेंट किया करते हैं और उसमें उबाला हुआ प्रासुक पानी भरदेते हैं जो कि शौचके समय काम आता है इस प्रकार कमंडलु शौचका साधन होता है।

३—शास्त्र—अपना ज्ञान बढाने के लिये मुनि प्रति दिन शास्त्र स्वाध्याय किया करते हैं। इस ज्ञानाभ्यास के प्रयोजनसे गृहस्थों द्वारा प्रदान किया हुआ ग्रन्थ मुनियोंके पास रहता है।

इस तरह पीछी, कमंडलु और शास्त्र इन तीन चीजोंके सिवा और कोई भी चीज उनके पास नहीं होती।

सावधानीसे आहार विहार आदि क्रियाएं करना समिति है। वे समिति पांच होती हैं—१—ईर्या, २—भाषा ३-एषणा ४—आदाननिक्षेपण और ५—उत्सर्ग।

ईर्या—चलते समय चार हाथ आगेकी पृथ्वी देखकर सावधानीसे चलना, जिससे कि पैर के नीचे आकर चींटी,चींटा आदि जीव जन्तुओंका घात न होने पावे —यह ईर्या समिति है।

भाषा समिति-हित (भलाई करने वाले)-मित (सारभूत अल्प) प्रिय (सुननेमें प्यारे) वचन बोलना भाषा समिति है। मुनि जो वचन

बोलते हैं वे हितकारी, थोडे और प्रिय होते हैं। ऐसे वचनों को भाषा समिति कहते है।

एषणा समिति—कुलीन गृहस्थके घर विधिपूर्वक (४६ दोष रहित) प्राप्त हुआ थोडा निर्दोष सादा भोजन करना भोजन करते समय मुनि स्वाद लेने या अपने शरीरको बलवान बनानेका विचार अपने मनमें नही रखते। यह शरीर मुनिचर्यामें कार्यकारी बना रहे केवल इसी उद्देश से थोडासा साधारण भोजन करते हैं और वह भी बहुत निःस्पृहताके साथ।

आदाननिक्षेपण समिति—मुनि महाराज अपने पासके पुस्तक, कमंडलु, पींछी को देख भाल कर रखते हैं और देख भाल कर उठाते हैं जिससे छोटे जीव को घात या कष्ट न होने पावे। यह आदान निक्षेपण समिति है।

उत्सर्ग समिति—अपने शरीरका मल—टट्टी; पेशाब; थूक; नासिका मल; कफ आदि ऐसे स्थान पर छोडना जहां कोई जीव—जन्तु न हो इसको उत्सर्ग समिति कहते हैं।

स्पर्शन (त्वचा); रसना, नासिका; नेत्र और कान इन पांचों इंद्रियोंके मनोहर (जिनको इन्द्रियां चाहें) विषयोंमें राग—प्रेम न करना तथा इन पांचों इन्द्रियोंके अनिष्ट (जिन पदार्थोंको इन्द्रियां न चाहें) विषयोंमें घृणा (नफरत—अरुचि) का त्याग करना पांच इन्द्रियोंका दमन कहलाता है।

जिन कार्योंको मुनि प्रतिदिन अवश्य किया करते हैं उनको आवश्यक कर्म कहते हैं। आवश्यक कर्म ६ हैं—

१—सामयिक; २—स्तुति; ३—वंदना; ४—प्रतिक्रमण; ५—स्वाध्याय; ६—कायोत्सर्ग।

सामयिक—समस्त पदार्थोंसे राग द्वेष त्यागकर समता भाव (शत्रु-मित्र, कांच रत्न; महल श्मशान निन्दक प्रशंसक भक्त तथा प्रहारक पर

समान भाव रखना अपने भक्त सेवक रत्न आदि से प्रेम न करना तथा शत्रु कांच निन्दाकरनेवाले मारनेवाले पर क्रोध द्वेष न करना) से आत्मा का ध्यान करना सामयिक है।

सामयिक करते समय मुनि पर चाहे जितना भयानक उपसर्ग (उपद्रव) आवे वे उस भयानक कष्टको सहन करलेते हैं किन्तु अपने सामायिक से नहीं चिगते—आत्मध्यान को नहीं छोडते।

स्तुति—अर्हत; सिद्ध, आचार्य; उपाध्याय और साधु इन पांचों परमेष्ठियोंका प्रतिदिन स्तवन पढना सो स्तुति है।

वंदना-पांचों परमेष्ठियों को हाथ जोडकर मस्तक झुकाकर प्रतिदिन नमस्कार करना वन्दना है।

प्रतिक्रमण—आहार विहार भाषण आदि कर्मोंमें होने वाले दोषोंका प्रतिदिन शोधन करना आलोचना पूर्वक यह मेरा दोष मिथ्या हो—न रहो न होवे (मिच्छा मे दुक्कडँ) ऐसा कहना; प्रतिक्रमण पाठ पढना प्रतिक्रमण है।

स्वाध्याय—पाठ करना शास्त्र पढना ज्ञानाभ्यास करना-पढाना आदि कार्य करना स्वाध्याय है। मुनि स्वाध्याय प्रतिदिन अवश्य करते हैं जिससे तत्त्वज्ञान तथा आध्यात्मिक ज्ञानकी वृद्धि होती रहे शास्त्र रचना भी स्वाध्यायका ही भेद है।

कायोत्सर्ग—सीधे खडे होकर हाथोंको नीचा लटकाकर दोनों पैरो में चार अंगुलका अंतर रखकर, नेत्रोंकी दृष्टि (निगाह) नाक पर रखकर ध्यान करना कायोत्सर्ग है। मुनि कायोत्सर्ग भी प्रतिदिन किया करते हैं, अतः यह छठा आवश्यक है।

७ शेष गुण

१—स्नानत्याग—आरम्भ (आग जलाना पानी फैलाना आदि)के त्यागी होनेके कारण तथा शरीर के शृंगारके त्यागी होनेके कारण मुनि

स्नान नहीं किया करते, भोजन के समय गृहस्थ लोग उनका शरीर पोछ देते हैं।

२—दान्तोनका त्याग-मुनि दान्तोन नहीं किया करते, आहार करते समय मुखशुद्धि कर लेते हैं।

३—भूमिशयन- मुनि पलंग पर, गद्दा, दरी आदि पर न सोकर पृथ्वी पर, पत्थर की शिला या लकड़ी के तख्ते पर सोते हैं।

४—वस्त्रत्याग—किसी भी तरह का जरा- भी कपड़ा न पहन कर नग्न रहते हैं।

५—केशलुंच—अपने शिर, मूछ, डाढ़ी के बालों को किसी नाई से छुरे कैंची आदि द्वारा न कटवाकर अपने हाथों से लोंच करते हैं।

६—भोजन दिन में केवल एक बार लेते हैं।

७—खडे होकर अपने हाथों में भोजन करते हैं।

इस तरह ५ महाव्रत, ५ समिति, ५ इन्द्रियदमन, ६ आवश्यक और ७ शेप गुण ये सब २८ मूलगुण साधु के होते हैं।

२२—परिषह

निश्चल आत्म ध्यान करनेके लिये (जिससे कि कर्म-निर्जरा हो) मुनियों द्वारा जो कष्ट विना किसी मानसिक क्लेशके सहे जाते हैं उनको परिषह कहते हैं। परिषह २२ हैं। १—क्षुधा, २ तृषा, ३—शीत, ४—उष्ण ५—दंशमशक, ६—नग्नता, ७—अरति, ८—स्त्री, ९—चर्या, १०—आसन, ११—शय्या, १२—आक्रोश, १३—वध, १४—याचना, १५—अलाभ, १६—रोग, १७—तृणस्पर्श, १८—मल १९—सत्कारपुरस्कार, २० प्रज्ञा, २१—अज्ञान और २२ अदर्शन।

१—भूख में कष्ट अनुभव न करना क्षुधा परिषह जय (जीतना) है।
२—प्यास में कष्ट अनुभव न करना तृषा परिषह जय है।
३—ठंडक के कष्टसे दुखी न होना शीत परिषहजय है।

४—गर्मी के दुख से विचलित न होना उष्ण परिषह जय है।

५—मक्खी मच्छर आदि के काटने पर क्लेशित न होना दँशमशक परिषह जय है।

६—लज्जा, विकार आदि को जीत कर निर्विकार रूपसे नग्न रहना नग्न परिषह जय है।

७—वन, गुफा आदि असुहावने स्थान पर रहते हुए भी मन में अरुचि न आने देना अरति परिषह जय है।

८—ब्रह्मचर्य से डिगानेके लिये स्त्रियोंके द्वारा कभी उपद्रव आने पर ब्रह्मचर्य में दृढ रहना स्त्री परिषह जय है।

९—नंगे पैर चलने से किसी प्रकार के खेद का न होना चर्या परिषह जय है।

१०—एक ही आसन से ध्यान करते समय शारीरिक कष्ट का अनुभव न करना आसन परिषह जय है।

११—पृथ्वी, शिला या तख्ते पर एक ही करवट से सोने में दुख अनुभव न करना शय्या परिषह जय है।

१२—किसी के अपमानकारक गाली गौलज आदि सुनकर भी मनमें क्रोध न आना आक्रोश परिषह जय है।

१३—कोई व्यक्ति मार पीटकर या अन्य प्रकारसे शारीरिक कष्ट दे फिर भी चित्त में अशान्ति न लाना वध परिषह जय है।

१४—चाहे जैसा कष्ट आने पर भी किसी से कुछ न मांगना, शान्त रहना याचना परिषह जय है।

१५—भोजन न मिलने पर या ऋद्धि प्राप्त न होने पर भी दुख न मानना अलाभ परिषह जय है।

१६—शरीर में कोई रोग हो जाने पर दुख न मानना रोग परिषह जय है।

१७—नुकीली घास कांटे आदि चुभ जाने पर दुखी न होना तृण-स्पर्श परिपह जय है।

१८—मुनि कभी स्नान नहीं करते अतः शरीर मैला हो जानेपर दुख न मानना मल परिपह जय है।

१९—किसी के आदर सत्कार आदि न करने पर भी दुख न मानना सत्कार पुरस्कार परिपह जय है।

२०—अवधिज्ञान आदि विशेष ज्ञान हो जाने पर भी अभिमान न करना प्रज्ञा परिपह जय है।

२१—अधिक काल तक भी अभ्यास या तप करते हुए भी विशेष ज्ञान प्राप्त न होने पर दुखी न होना अज्ञान परिपह जय है।

२२—कठिन तपस्या करनेके पश्चात् भी कुछ ऋद्धि प्राप्त न होने से तथा अन्य किसी भी कारण से जिनवचनमें अश्रद्धा न आने देना अदर्शन परिपह जय है।

साधुओं में जो अधिक अनुभवी अधिक तपस्वी अधिक गुणी होते हैं उनको समस्त मुनि अपना नेता मानकर उनको आचार्यपद पर प्रतिष्ठित करते हैं समस्त मुनि उनकी आज्ञानुसार कार्य करते हैं। वे ही मुनि दीक्षा देते हैं तथा संघके मुनियोंको प्रायश्चित्त आदि शिक्षा (दंड) देते हैं।

जो साधु अधिक विद्वान होता है, अन्य साधुओं को पढ़ाता है, तथा जिसको योग्य समझ कर समस्त मुनि या आचार्य महाराज उपाध्याय का पद देते हैं वे उपाध्याय होते हैं।

मुनियों के संघ में एक आचार्य होते हैं एक उपाध्याय होते हैं। आचार्य उपाध्याय के सिवाय शेष सब मुनि 'साधु' कहलाते हैं। आचार्य, उपाध्याय, साधु ये सभी २८ मूल गुणों का आचरण करते हैं।

इन २८ मूल गुणों के सिवाय आचार्य में ३६ गुण (१२ तप १० धर्म ५ आचार—दर्शना चार, ज्ञानाचार, चारित्राचार तपाचार, वीर्याचार ६ आवश्यक (विशेष रूपसे) और ३ गुप्ती मन वचन काय का रोकना, और होते हैं तथा उपाध्याय में ११ अंग १४ पूर्वरूप शास्त्रोंका ज्ञान होना रूप २५ गुण होते हैं।

आर्यिका

जो स्त्री पांच महाव्रत धारण करती है उसको 'साध्वी' या आर्यिका कहते हैं।

स्त्रीयोंमें स्वभावसे पुरुषोंकी अपेक्षा अधिक संकोच भाव तथा लज्जा हुआ करती है तथा उनके शरीरके अँग उपांगोंकी स्वाभाविक रचना एसी होती है जिनको कपडे से ढांकना आवश्यक है अतः स्त्रीयोंको नग्न रहने का विधान नहीं है। इस कारण समस्त परिग्रहका त्याग करने पर भी आर्यिका को एक साडी पहनने की आज्ञा है। इस एक साडी पहनने के सिवाय शेष व्रत साधुओं के समान आचरण करती है।

साधुओं का स्वावलम्बन

गृहस्थाश्रमका परित्याग करके साधु बनने वाले महात्मा किसी भी तरह किसी का सहारा नहीं लेते केवल थोडासा भोजन ग्रहण करनेमें उनको गृहस्थोंके घर आना पडता है। इसके सिवाय उन्हें अपने किसी भी कार्यमें (आने जाने आदि) रुपये पैसे वस्त्र आदि किसी भी वस्तुकी आवश्यकता नही होती इसी स्वावलंबनके लिये वे पैदल चलते हैं, हाथ में भोजन करते हैं पृथ्वी पर सोते हैं, नग्न रहते हैं, अपने हाथोंसे केश लोंच करते हैं।

गृहस्थ

जो व्यक्ति घर, परिवार का त्यागकर साधु नहीं बन सकता, उच्च त्याग, तप, संयम पालन करने की शक्ति जिसमें नहीं है, वह

घर में रहकर ही अपनी शक्तिके अनुसार धर्म आचरण करता है। घर में रहकर धर्मसाधन करने वाले व्यक्ति को 'गृहस्थ' कहते हैं।

'गृह' शब्दका अर्थ वैसे साधारण तौरसे मिट्टी, ईंट, पत्थर, लकडी आदिकी भींत, छत, द्वार आदि बनाकर रहनेके लिये तयार किया हुआ 'घर' ही लिया जाता है किन्तु 'गृह' शब्दका अर्थ अपनी 'विवाहित स्त्री' भी है (गृहं हि गृहिणीमाहुः, कलत्रं गेहिनी गृहम्)। तदनुसार जो व्यक्ति अपनी स्त्रीके साथ रहता है उसको 'गृहस्थ' (गृहेण सह तिष्ठतीति गृहस्थः) कहते हैं।

गृहस्थका दूसरा नाम 'श्रावक' है। जो मनुष्य घरमें रहता हुआ अपने गुरुसे धर्म उपदेश सुनता है उसको श्रावक कहते हैं दोनों शब्दों का एक ही अर्थ है।

गृहस्थ श्रावक की अनेक श्रेणी (दर्जे) हैं उन श्रेणियोंका हीन, अधिक त्याग संयमके अनुसार चारित्र भी अलग अलग हीन अधिक होता है। जो मनुष्य जितना चारित्र पालन कर सकता है वह उसी श्रेणीमें रहकर धर्मसाधन करता है। श्रावककी सबसे ऊंची श्रेणीसे भी आगे 'साधु चारित्र या सकल चारित्र है।

श्रावक के भेद

श्रावकके मूल तीन भेद हैं—१-पाक्षिक, २—नैष्ठिक, ३–साधक

जिसको सम्यग्दर्शन (सच्चे देव, सच्चे शास्त्र और सच्चे गुरु का श्रद्धान) तो हो किन्तु विधि पूर्वक किसी श्रेणीका चारित्र न आचरण करता हो यानी—जिसको केवल धार्मिक पक्ष हो पाक्षिक श्रावक है।

जो श्रावक की ११ श्रेणियों (प्रतिमाओं) में से किसी भी प्रतिमा का चारित्र आचरण करता हो वह 'नैष्ठिक श्रावक' है।

अपने मृत्यु समयमें जो विधि पूर्वक सन्यास ग्रहण करता है—समाधि सहित मरण करता है उसको 'साधक' कहते हैं।

गृहस्थ-आचार

पाक्षिक—श्रावक

सम्यग्दर्शन (आत्मा-अनात्माके भेद विज्ञान पूर्वक आत्मश्रद्धा) हो जानेपर सच्चे देव, सच्चे शास्त्र तथा सच्चे गुरुमें दृढ़ श्रद्धा हुआ करती है। अर्थात् सम्यग्दृष्टि (सम्यग्दर्शन वाला) मनुष्य अपने कल्याण के लिये अर्हन्तदेव; अर्हन्तदेवका उपदिष्ट (उपदेश अनुसार बना हुआ) शास्त्र तथा निर्ग्रन्थ (आरम्भ परिग्रह रहित) साधु को ही आदर्श और पूज्य समझता है, इनके सिवाय वह किसी भी धन, पुत्र, लाभ आदि प्रलोभन में आकर अथवा किसी भी भयके कारण अन्य देवी देवताओं, शास्त्रों तथा साधुओं को आत्महितके लिये उपयोगी नहीं समझता; इसी कारण वह सच्चे देव शास्त्र गुरुकी ही भक्ति; विनय; पूजा करता है, अन्य किसी की नहीं।

मिथ्या—मान्यता

यह बात निश्चित है कि जीव अपने कार्योंसे जैसा शुभ अशुभ कर्मोंका बन्ध किया करते हैं समय आने पर उन कर्मोंका वैसा ही अच्छा बुरा फल जीवोंको मिला करता है। आत्मा अमर है इसलिये पहले जन्मके संचित किये हुए शुभ अशुभ कर्म आत्माके साथ इस भवमें भी साथ आते हैं। वे कर्म जब उदयमें आते हैं तब अपने प्रभाव के अनुसार सुख दुःख रूप अपना फल जीवको दिया करते हैं। एवं इस जन्मके कमाये हुए कर्म भी फल दिया करते हैं।

जिस तरह भांगका पीना या न पीना तो अपनी इच्छा पर निर्भर है कि मनुष्यगण भांग पीवे या न पीवे किन्तु पी लेनेके बाद मनुष्य यह चाहे कि 'इसका नशा मुझको न चढे' ऐसा नहीं हो सकता—यानी वह नशा तो अवश्य चढेगा। इसी तरह कर्म-बन्ध होनेसे पहले तो मनुष्यके अपने अधीन है कि वह जैसा कर्म बांधना चाहे बांध सकता है—यानी अच्छे स्वपर-हितकारी कार्य करके शुभकर्मोंका बन्ध कर

सकता है अथवा बुरे कार्य करके अशुभ (दुखदायक) कर्मोंका बन्ध कर सकता है किन्तु कर्मबन्ध कर लेनेके बाद वह यों चाहे कि मुझे सुख ही सुख मिले' दुख जरा भी न मिले ऐसा नहीं हो सकता। बांधा हुआ अशुभ कर्म तो अपना फल अवश्य देगा। उसको कोई नहीं हटा सकता।

तब अपनी निर्धनता, निःसन्तानता; शारीरिक दुख आदि मिटाने की इच्छासे या धन, पुत्र, स्त्री आदि पानेकी इच्छासे किसी देवी देवता; किसी ग्रन्थ; मन्त्र, तन्त्र तथा किसी साधु फकीर की पूजा भक्ति सेवा नमस्कार आदि करनेसे वह दुखदायक कर्म कैसे पलट सकता है? और बिना उसके पलटे सुख कैसे मिल सकता है। बबूल का बीज बोकर आम कदापि नहीं मिल सकते इसलिये धन पुत्र स्त्री, सुख आदि पानेकी अभिलाषासे कुदेव; कुगुरु आदि की भेंट, पूजा, भक्ति करना बिलकुल व्यर्थ है।

ऐसी अटल श्रद्धाके कारण सम्यक् श्रद्धालु व्यक्ति मिथ्यादेव, शास्त्र, गुरुकी मान्यता स्वप्नमें भी नहीं करता।

सच्चे देव, शास्त्र, गुरु को क्यों मानते हैं?

जब अशुभ कर्म-बन्धको यह जीव मिटा ही नहीं सकता तब सच्चे देव; शास्त्र गुरु की मान्यता, भक्ति, पूजा करने से क्या लाभ है?

इस प्रश्नका सरल सीधा उत्तर यह है कि सच्चा देव शान्ति वीतरागता, धीरता,, गंभीरता का प्रतीक चिन्ह, है उसकी भक्ति पूजा करने से हृदय पर शांति वीतरागता, धीरता; गम्भीरता की छाया पड़ती है।

सच्चे शास्त्रमें जीवदया, दीनरक्षा, दान, परोपकार; ब्रह्मचर्य पालन, सत्यभाषण आदिका तथा जीव अजीवके स्वरूपका उपदेश भरा हुआ है उसके स्वाध्याय करने से हृदयमें वैसे जीवदया आदि के शुभ भाव पैदा होते हैं। और स्व और पर का भेद विज्ञान होता है।

सच्चा गुरु शत्रु मित्र; दुष्ट सज्जन, गुणी दुर्गुणी आदि पर समदृष्टि रखता है, क्षमा शान्तिका पुतला है; सब जीवों पर दयालु है; धन आदि की लालसासे दूर है, सुगुणोंका भंडार है अतः उसकी सेवा करने से तथा उसका उपदेश सुनने से वैसे ही शुभ गुणोंका विकास चित्त पर होता है।

इनकी भक्ति करने से कषायोंका उपशम होता है जिससे तत्काल सुख और शान्तिका अनुभव होता है। ये सब बातें शुभ कर्मों के बन्धकी कारण भी हैं और शुभ कर्मोंके उदय होने से सुख मिला करता है। तथा मोक्षका साधन भूत सामग्री मिलती है इसलिये यदि यों कह दें कि सच्चे देवशास्त्र गुरुकी मान्यता, सेवा, भक्ति सुख देने वाली है तो कोई हानि नहीं।

इस तरह पाक्षिक श्रावकके व्यवहार सम्यग्दर्शन (बाहरी क्रियाओं से अनुमानित होने वाला सम्यग्दर्शन) होता है।

इस सम्यग्दर्शनके साथ उसके कुछ आचरण भी होता है जो कि धर्म धारण करनेका सबसे कम आचरण है, यदि इतना आचरण न हो तो वह श्रावक (जैन गृहस्थ) नहीं माना जा सकता।

आचरण

आठ मूलगुण पालना, जल छानकर पीना, रात्रि भोजन त्याग प्रतिदिन देवदर्शन करना।

पांच उदम्बर फलों तथा मद्य, मांस, मधु इन आठ चीजोंके खानेका त्याग ही 'आठ मूलगुण' कहलाते हैं।

पहले आम, जामुन आदि पेडों पर अपनी अपनी ऋतुमें पहले फूल आते हैं, फूलोंके झड जाने पर फूलोंके स्थान पर फल प्रगट हुआ करते हैं किन्तु जिन फलोंके पहले फूल नहीं आया करते; बिना फूलोंके ही फल लगने लगते हैं, अतः जिनके उत्पन्न होने की कोई नियत ऋतु नहीं होती वे उदम्बर फल होते हैं।

वड, पीपल, गूलर, अंजीर, कठूमर ये ५ उदम्बर फल होते हैं इनके भीतर त्रस जीव (चलने फिरने उडने वाले जंतु) होते हैं। गूलर, बरगद, अंजीर आदिके तोडने पर उनमें से उडते हुए वे जीव स्पष्ट दीख पडते हैं कुछमें सूक्ष्म (बारीक) होनेसे साफ नजर नहीं आते। इस कारण इन फलोंके खानेसे साथमें उनके भीतर रहने वाले वे त्रस जीव भी खाये जाते हैं, इस जीव हिंसासे बचनेके लिये उन फलोंके खानेका त्याग करना चाहिये।

मद्य

महुआ जौ आदि पदार्थोंको खूब सडाकर मद्य (शराब) बनाई जाती है। इन पदार्थोंको सडानेसे एक तो उसमें असंख्यात त्रस जीव (सूक्ष्म) उत्पन्न होते रहते हैं, अतः उस शराबके पीनेसे उन जीवोंकी हिंसा होती है। दूसरे उस शराबमें एक नशा भी आ जाता है जो कि शराब पीते समय मनुष्यको चढ जाता है और उसको अचेत (बेहोश) बना देता है। शराबके नशेमें मनुष्य चाहे जहां गिर पडता है, नालीमें गलीमें सडक पर गिर जाता है, शराबीके मुखमें पेशाब जैसी गन्ध आनेसे अवसर देखकर कभी कभी कुत्ते आकर उसके मुखमें मूत्र (मूत-पेशाब) कर देते हैं, नशेमें चूर वह मनुष्य समझता है कि मैं शराब पी रहा हूं। इसके सिवाय उस नशेमें कामवासना जाग्रत होती है तथा उसकी सूझ बूझ ऐसी मारी जाती है, कि उसको अपनी पराई स्त्रीका, स्त्री, पुत्री, बहिन का भेदभाव मालूम नहीं हो पाता इस कारण अपनी बहिन, पुत्री आदिसे भी कामवासना तृप्त करनेके लिये तयार हो जाता है। इत्यादि, अनेक अनर्थ शराबके नशेमें शराबी मनुष्य किया करता है। इस कारण शराब पीनेका त्याग करना आवश्यक है।

मांस

दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवोंके शरीरमें रक्त (खून) होता है अतः उनके शरीरका कलेवर मांस कहलाता

है। मांसमें अगणित सूक्ष्म त्रस जीव सदा उत्पन्न होते रहते हैं. मांसको सुखा लिया जावे या पका लिया जावे अथवा कच्चा हो; सब दशाओं में उसमें जीव उत्पन्न होते रहते हैं, इस कारण मांस खानेसे उन असंख्यात जीवोंकी हिंसा हुआ करती है, जिस जीवका वह मांस होता है उसकी हत्या तो पहले करनी ही पड़ती है। इसलिये इस हिंसा कृत्यसे बचनेके लिये मांस भक्षणका त्याग करना चाहिये।

मधु

मधु यानी शहद की मक्खियां फूलोंको चूसकर उनका रस अपने मुखमें भरकर लाती हैं और अपने छत्तमें आकर उगलकर उस रसको रख देती हैं। मुखसे उगला हुआ होनेके कारण उस रसमें जीव उत्पन्न हो जाते हैं, जैसे कि वमन (उल्टी) में जीव पड़ जाते हैं। तथा मधु मक्खियां उस छत्तेमें अंडे भी दिया करती हैं। इस तरह वह मधु—शहद अगणित जीवोंका पिंड बन जाता है। अतः शहद खानेसे उन जीवोंका घात होता है, इस कारण शहद खानेसे बहुत हिंसा होती है। इसीलिये मधुका त्याग जीव रक्षाकी दृष्टिसे बहुत आवश्यक है।

जल छानना

पानीमें असंख्यात त्रस जीव होते हैं पानीको धूपमें रखकर देखें तो उनमेंसे बहुतसे जीव पानीमें चलते फिरते दीखते हैं; बहुत से बारीक (सूक्ष्म) होनेके कारण दुर्वीक्षणसे दिखाई देते हैं। कप्तान स्कोर्सबी नामक अंग्रेजने एक बूंद पानीका फोटो लेकर उस एक बूंद पानी में ३६४५० जीव गिने हैं। (इसका फोटो चित्र 'विज्ञान' में गवर्नमेन्ट प्रेस इलाहाबादसे प्रकाशित हुआ है।) किन्तु बहुत जीव इतने सूक्ष्म होते हैं जिनका चित्र कैमरा से नहीं लिया जा सकता या जो चित्र में स्पष्ट नहीं दिखाई दे सकते। अतः पानीको यों ही पी लेने से उन असंख्य जीवोंकी हिंसा होती है; इस कारण उस जलको अच्छे गाढे दोहरे कपड़े से छान कर पीना चाहिये जिससे उन जीवोंकी रक्षा होसके। दोहरे गाढे कपड़े से छान लेने पर वे जीव छने हुए पानीमें नहीं आ पाते।

कपडे में आये हुए जीवों को छने हुए जलके द्वारा अन्य बर्तन में उतार कर उस जलको वहीं पर पहुँचा देना चाहिये जहां से वह पानी लाया गया हो।

छना हुआ पानी भी यदि यों ही रक्खा रहे तो दो घडी (४८ मिनटों, पीछे उसमें फिर जीव उत्पन्न होने लगते हैं। यदि उस छने हुए जलमें लोंग कूटकर मिला दी जावे तो ६ घंटे तक उसमें जीव उत्पन्न नहीं होते, यदि उस पानी को गर्म कर लिया जावे तो १२ घंटे तक उसमें जीव उत्पन्न नहीं होते तथा पानीको खूब उबाल लेने पर २४ घंटे तक उसमें जीवोंकी उत्पत्ति नहीं हुआ करती इस छने हुए जलको जितनी देर तक काममें लाना हो तबतक प्रासुक (जीवशून्य) बनाये रखनेकी तदनुसार विधि काममें लेनी चाहिये। यदि ऐसा न करना चाहें तो जब भी पीवें कपडेसे छानकर ही पीवें।

बिना छाना हुआ पानी पीनेसे हानि

बिना छाना हुआ पानी पीनेसे जीव हिंसा तो होती ही है अत: धार्मिक दृष्टिसे उसका पीना हानिकर (पापकारक) है ही, किन्तु शारीरिक दृष्टिसे भी वह हानिकर होता है। बिना छाना पानी पीनेसे कभी पेटमें रोग पैदा हो जाते हैं इसके सिवाय कभी कभी बडी भयानक घटनाएं भी हो जाती हैं।

मुलतानमें मूलचन्द्र कपूर नामक एक युवकको हमने देखा है। जिसके पेटमें बहुत पीडा हुआ करती थी, कभी कभी तो उसे मुखसे तथा टट्टीके मार्गसे खून भी आता था। एक बार मुलतानमें आंखोंके प्रसिद्ध विशेषज्ञ डाक्टर मथुरादास जी मोघा निवासी आये तो स्व० सेठ मुरलीधर जी शिकारपुरीने उस मूलचन्द को डाक्टर साहब के सामने उपस्थित किया एक्सरे के बाद डाक्टर ने उसके पेटको चीरा (आपरेशन किया) तो उसके पेटमें एक साढे ५ छटांक का जीवित मेंढक निकला।

डाक्टर साहब ने कहा कि मेंढक पहले पहल बहुत छोटा होता है। वह पानी पीते समय मूलचन्दके पेट में चला गया और वहां पर बढता रहा। यदि पेटसे उसे न निकाला जाता तो कुछ दिन बाद मूलचन्द मर जाता।

मुरादाबादमें गर्मीके दिनोंमें रातको एक लडके ने लोटेमें रक्खा हुआ पानी पी लिया उस लोटेमें एक बीछू आ गया था पानी पीतेही वह बीछू उसके मुखमें पहुंच गया और तालु से चिपट गया और वहां पर लडके को उसने डंक मारा लडका पीडा से छट पटाने लगा। लोगों ने आकर बीछू को वहां से छुटानेका बहुत यत्न किया किन्तु बीछू वहां से न छूटा और बार बार डंक मारता रहा। फल यह हुआ कि वह लडका उसी पीडामें अपना जीवन खो बैठा।

यदि मूलचन्द कपूर तथा मुरादाबादका वह लडका छानकर पानी पीता तो ऐसी दुर्घटना कदापि न होती।

जल कपडे से ही छानना चाहिये

पानीको तारकी बनी हुई बारीक जालीसे भी छाना जा सकता है जैसा कि आजकल दूध, चाय आदि को लोग छाना करते हैं किन्तु किसी भी द्रव (बहने वाले पतले) पदार्थको छानने की यह विधि निर्दोष नहीं है क्योंकि एक तो तारकी जाली चाहे जितनी बारीक क्यों न हो किन्तु उसके छेदमें से पानीमें पडा हुआ बाल बाहर निकल आता है जो कि उस छानने की प्रक्रियाको ही व्यर्थ सिद्ध कर देता है।

दूसरे लोहेकी जाली पर कुछ समय बाद जंक लग जाती है। जंक लगे हुए पदार्थसे छूकर या रगड खाकर निकला हुआ पानी, दूध या चाय आदि पदार्थ स्वास्थ्यके लिये हानिकारक होता है।

कपडे द्वारा छाने गये पानी, दूध, चाय आदिमें न तो बाल आ सकता है; न जंक का भय रहता है तथा पानी के सूक्ष्म जीव तो कपडेसे ही बचाये जा सकते हैं, तारकी जाली से तो उनका बचा-

किसी तरह हो ही नहीं सकता। इसकारण जलको छाननेके लिये तार की जालीकी अपेक्षा दोहरा कपडा श्रेष्ठ तथा लाभदायक है।

रात्रि भोजन त्याग

रातके समय भोजन करनेका त्याग करना रात्रि भोजन त्याग है।

दिनके समय सूर्यके समय प्रकाश में सब सूक्ष्म, स्थूल चीजें साफ दीख पडती हैं तदनुसार दिनमें भोजन करते समय भोजनमें आने वाले चींटी से भी बहुत छोटे जीव जन्तु दीख जाते हैं जिनसे कि उन जीवों को अलग करके शुद्ध भोजन किया जा सकता है।

दूसरे—दिनमें सूर्यकी गर्मी तथा प्रकाश के कारण अनेक प्रकार के कीटाणु न तो उत्पन्न हो पाते हैं और न बाहर इधर उधर निकलते हैं; वर्षाके दिनोंमें भी पतंगे आदि दिनमें नहीं दीख पडते; अतः दिनमें भोजन करनेसे उन कीटाणुओंसे भोज्य पदार्थोंकी रक्षा हो जाती है।

इसके सिवाय दिनके समय वायु सचार भी सूर्यके आताप (गर्मी) के कारण निर्विष (प्रायः शुद्ध) होता रहता है इस कारण भी दिनमें भोज्य (खाने योग्य) पदार्थ ठीक रहते हैं।

किन्तु रातके समय ऐसा नहीं होता। रातको बिजली, या गैस, दीपक आदिका चाहे जितना तेज प्रकाश किया जावे किन्तु उस प्रकाश में सूक्ष्म बारीक जीव स्पष्ट दिखाई नहीं पडते किन्तु जीव अधिक संख्या में इकट्ठे हो जाते हैं और मर कर गिरने लगते हैं। इस कारण भोजनमें आ जाने वाले छोटे जीवों का बचाव होना कठिन है।

रातके समय सूर्य का प्रकाश और गर्मी न रहनेसे अनेक प्रकारके कीटाणु (सूक्ष्म कीडे) उत्पन्न होकर बाहर इधर उधर फिरते हैं। तथा भोज्य पदार्थों (रोटी दाल, शाक) में भी वे आजाते हैं, बारीक होनेसे दिखलाई नहीं पडते। वर्षा में सूर्य अस्त होते ही अगणित पतंगे तथा कोई छोटे छोटे उडने वाले अनेक प्रकार के कीडे दीपक, बिजली, गैस पर आकर पडते हैं और मरकर उनका ढेर लगता जाता है, भोजनमें उनका आना रोका नहीं जा सकता।

तथा—रातके समय वायु भी दिनके समान निर्दोष नहीं चला करती दिनमें पेड आक्सीजन (वायु) छोडते हैं किन्तु रातको वे पेड आक्सीजन बाहर नहीं निकालते, जहरीली वायु निकालते हैं। इसी कारण दिनमें रोग कम फैलते हैं तथा रोगोंका प्रकोप भी रातमें अधिक बढता है, मृत्युएं भी इसी कारण रात को अधिक होती हैं। उस जहरीली वायुका सम्पर्क भोजनके पदार्थों से भी होता है।

इन कारणोंसे रातको भोजन करना शरीरके लिये भी हानि कारक है और हिंसाजनक भी है। कदाचित भोजन करते समय दीपक बुझ जावे, बिजली फ्यूज हो जावे तब तो भोजनमें से बडे कीडे मकोडे भी नहीं निकाले जा सकते।

रातके समय जो भोजन तयार किया जाता है वह तो और भी अधिक भयानक है। भोजन बनाते समय कभी कभी बड़े जीव आकर दाल, साग, खीर आदिमें गिरकर साथमें पक जाते हैं जिससे कि उस भोजनको खाने वाले लोगों की मृत्यु तक हो जाती है।

हरिद्वारमें कुम्भके मेले पर एक मनुष्यने भोजन करनेके लिये रातको गाजरका अचार एक दुकानसे लिया जब वह भोजन करने लगा तो उससे अचार का एक टुकडा न टूट सका जब उसने उठाकर देखा तो वह एक मरी हुई चूहा थी जो कि गाजरकी फांक समझी जा रही थी।

एक ब्राह्मणने रात को भोजन बनाया बेंगन पकानेके लिये पानी (अचेत) चूल्हे पर रक्खा वह मसाला लेने के लिये ज्यों ही वह उठा कि एक मेंढक उछल कर उस बर्तन में आ रहा और उसीमें मर गया भोजन करते समय जब ब्राह्मण से वह न टूट सका तब उसने अधिक प्रकाश करके देखा तो उसको उससमय मेंढकका पता चला।

एक शहरमें मुसल्मानोंकी एक बरात आई, बरातके लिये खीर पकाई गई खीर बनते समय छत में से एक काला सांप उस खीर में गिर गया और उसी खीर में मर गया।

बरातको खीर परोसते समय भी उस सांप का पता न चला अतः बराती वह खीर खागये सांपके विपसे वह खीर जहरीली हो गई थी अतः

उस खीर को खाकर १७—१८ आदमी तो जो सोये सो सोते ही रह गये फिर उठे ही नहीं, शेष आदमियों की दशा भी खराब होगई प्रातः काल होने पर जब बरातका बुरा हाल देखा तब डाक्टर बुला कर बरातियों की जांच पडताल हुई, डाक्टरने बतलाया कि इन को भोजन में जहर दिया गया है। लडकीवाला मुसलमान हक्का बक्का रह गया जब उस बनी हुई खीर के वर्तन को देखा गया तब उस सांपका पता चला जिस के जहर से खीर का रंग हरा होगया था।

इंदौर में एक मंदिर में मंदिर का पुजारी लोटे में दूध रख गया था कि पीछे एक काला सांप आकर उस दूध में से कुछ दूध पी गया सांप के पीने से दूध विषैला हो गया। पुजारी ने बाहरसे आकर खांड मिलाकर दूध पी लिया रात के प्रकाशमें दूध का रंग साफ नहीं दीखा और उस को कुछ संदेह न हुआ दिन होता तो दूध का बिगडा हुआ रंग देख कर उसे न पीता। परिणाम यह हुआ कि सांप का विष उसे चढ गया और वह अपनी जान से हाथ धो बैठा।

इस तरह की अनेक घटनाऐं प्रतिवर्ष होती रहती हैं। यदि रातको भोजन न किया जावे तो ऐसी घटनाऐं कदापि नहीं हो सकतीं।

भोजन में मक्खी खालेने से वमन, चींटी खालेने से कण्ठरोग, जूं खा लेने से जलोदर और मकडी खा लेने से कुष्ट रोग हो जाता है।

वैद्यक शास्त्र के अनुसार भोजन कर लेने के ३ घंटे पीछे सोना चाहिये जो कि रातको भोजन करने पर हो नहीं सकता।

इस कारण अन्य प्राणियों की रक्षाकी दृष्टि से तथा अपनी शारीरिक रक्षा की अपेक्षा भी रात्रि भोजन छोडने योग्य है।

देव दर्शन

आत्मशुद्धि के अनेक मार्ग हैं—आत्मध्यान करना, शास्त्रस्वाध्याय करना, आध्यात्मिक उपदेश सुनना आदि। इनमें से वीतराग दर्शन भी एक उपयोगी मार्ग है, वीतराग देव के दर्शन भक्ति करने से आत्मामें वीतरागी शान्त भावों का उद्गम होता है अतः देवदर्शन भी आत्मउत्थान में एक अच्छा सरल साधन है।

जैसे कि अपना मुख देखने के लिये दर्पण देखना आवश्यक है, बिना दर्पण देखे मनुष्य को अपना मुख दिखाई नहीं देता और न वह अपने मुखका कोई दाग शीशा देखे बिना मिटा सकता है। इसी तरह अपना आत्मस्वरूप देखने के लिये जिस दर्पण की आवश्यकता है वह शीशा अर्हन्त भगवान की शुद्ध, शान्त, निर्विकार, निष्काम, निर्भय, प्रसन्न अर्हन्त प्रतिमा है उसको बिना देखे आत्माके काम, क्रोध, लोभ दीनता, भय, क्षोभ, मद आदि दोषोंको संसारी आत्मा दूर नहीं कर सकता।

जो तपस्वी ऋषि शुक्लध्यान के बल से मोहनीय कर्म का नाश करके पूर्ण वीतराग (राग द्वेषादि दोष रहित) हो जाते हैं तथा ज्ञानावरण दर्शनावरण, अन्तराय कर्मों का क्षय करके अनन्त बली, सर्वज्ञ यानी-अर्हन्त हो जाते हैं। वे अपने दिव्य उपदेश द्वारा संसार के दुखी प्राणियों को आत्मा का निराकुल सुख तथा शान्त भाव प्राप्त करने का मार्ग बतलाते हैं।

उनका साक्षात् दर्शन करने और उपदेश सुनने से तो जीवों को अचिन्त्य लाभ होता है किन्तु वह सुअवसर तो अतीत चौथे काल में ही सुलभ था इस समय तो हमारे निकट कोई वीतराग देव (अर्हन्त) विद्यमान (मौजूद) नहीं है। चौथे कालवर्ती सभी अर्हन्त इस समय सिद्धालय में विराजमान (सिद्ध) हैं। सिद्ध भगवान सदा संसारी जीवों के लिये अदृश्य (नजर न आने वाले) रहते हैं। इस जमाने में अर्हन्त वीतराग देव के दर्शन पूजन की अभिलाषा को हम किस तरह पूरा करें?

इसका उत्तर यह है कि वास्तविक (असली मूल) पदार्थके अभाव में प्रतिकृति (नकल) से काम लिया जाता है, तदनुसार मानचित्र (नकशा) चित्र, (फोटो) लकड़ी-मिट्टी-पत्थर की मूर्ति बनाने की पद्धति प्राचीनकाल से प्रचलित है। सिंह, बाघ, हाथी का ज्ञान छोटे बच्चों को कराने के लिये असली सिंह, बाघ, हाथी आदि जानवर बच्चोंके सामने नहीं लाये जाते क्योंकि ऐसा प्रत्येक पाठशाला में संभव नहीं हो सकता, अतः उन बच्चों को उन पशुओंका ज्ञान चित्र (तसवीर) तथा मिट्टी के खिलौनों से कराया जाता है, हिमालय पर्वत, गंगा नदी, बम्बई,

कलकत्ता की दिशा, स्थान आदि समझानेके लिये मानचित्रों (नक्शों) का उपयोग किया जाता है।

तदनुसार असली अर्हन्त वीतराग देव के अभाव में उनकी प्रतिमा बनाकर उस प्रतिमासे अर्हन्त देव का काम लिया जाता है।

प्रतिमा-पूजन

अर्हन्त भगवान समवशरण सभामें अथवा अपनी गन्धकुटी पर पद्मासनमें बैठे हुए, हाथ पर हाथ रक्खे हुए, अपनी नाक पर दृष्टि जमाये हुए, शान्त निर्विकार, निश्चल, निर्भय, धीर, गम्भीर प्रसन्न मुद्रा में विराजमान थे। कोई तीर्थंकर खडगासन (खड़े हुए)से अर्हन्त हुए थे। तदनुसार अर्हन्त अवस्था की जो पाषाणमूर्ति बनाई जाती है उसमें वैसी ही मुद्रा (रूप) अंकित की जाती है।

इस कारण साक्षात् अर्हन्त देव के दर्शन से जैसा लाभ प्राप्त होता है वैसा ही लाभ अर्हन्त की मूर्ति के दर्शन से प्राप्त करनेकी चेष्टा की जाती है।

प्रतिमापूजा के विषयमें कुछ लोग निम्न लिखित शंकायें कीया करते हैं–

१–जीवित व्यक्तिके दर्शन से तो कुछ लाभ मिल सकता है किन्तु जड मूर्ति के दर्शन से कुछ लाभ नहीं मिल सकता क्योंकि जो मूर्ति स्वयं जड है वह दूसरों को दर्शन भक्तिसे क्या लाभ दे सकती है ?

२–पत्थर को हाथ, जोड़ने, नमस्कर करने से पत्थरकी जडता तो मिल सकती है किन्तु उससे आध्यात्मिक लाभ कैसे मिल सकता है ?

३–जो पाषाणमूर्ति अपने ऊपर बैठे हुए मक्खी मच्छर आदि जीव जन्तुओंको भी नहीं दूर कर सकती उसमें अपने भक्तोंके संकट दूर करनेकी क्या शक्ति हो सकती है ?

४ जब कि पत्थर पत्थर सब एक समान होते हैं तब अन्य पत्थरों को या पहाड, चट्टानों को भी नमस्कार क्यों नहीं करते हैं ?

५ जिस मूर्तिको एक साधारण शिल्पी (शिलावट), गढकर तयार करता है उसमें पूज्यता कैसे आ सकती है ?

६ अर्हंत भगवान जब वीतराग हैं तब वे पूजा भक्ति करने से अपने पास से भक्त को क्या देंगे ?

७ विधर्मी और दुष्ट लोग पूज्य भगवान की मूर्तिको तोड़ फोड़ कर अपमान करते हैं यदि मूर्ति न बनाई जावे तो ऐसा अनर्थ भी न होवे ।

८ जब आत्मा में परमात्मा होने की शक्ति विद्यमान है तब किसी पाषाण मूर्ति की उपासना करने से क्या लाभ है ?

९ वीतराग प्रतिमा की सभी सामग्री वीतराग रूप होनी चाहिये सुन्दर मन्दिर बनवाना उसमें रंगबिरंगी चित्रकारी करवाना, छत्र, चंवर भामंडल आदि सोने चांदी के उपकरण जुटाना आदि रागवर्द्धक साधन उनके समीप न रखने चाहिये ।

इन शंकाओं का समाधान क्रमशः यों है—

१ हमारे नेत्रोंके सामने जो भी पदार्थ आते हैं वे चाहे जड़ हों या चेतन, अपना अच्छा बुरा प्रभाव हृदय पर अवश्य डालते हैं। सिनेमाघर में जो चलचित्र (फिल्में] देखे जाते हैं वे भी निर्जीव जड़ ही होते हैं फिर भी उनके देखने से किस प्रकार मनोरंजन होता है, हृदय पर कैसा अच्छा बुरा प्रभाव पड़ता है इस बात को सभी स्त्री पुरुष अच्छी तरह जानते हैं। सभी चल चित्रों से आजकल नागरिकता गृहव्यवस्था, बाल शिक्षा आदि अनेक प्रकार की शिक्षायें दी जाती हैं। इन निर्जीव फिल्मों के समान ही वीतराग अर्हंत भगवान की प्रतिमा भी प्रभावशाली मूक उपदेश देती है वह उपदेश अशान्त दूषित हृदय को बदलने की पर्याप्त क्षमता [शक्ति] रखता है ।

२ भगवान की मूर्ति यदि पत्थर मानकर या समझकर पूजी जाय तो इस में संदेह नहीं कि पत्थरके गुणोंसे हृदय प्रभावित होगा किन्तु बुद्धिमान भक्त पुरुष तो उस मूर्ति में भगवान का दर्शन करता है जैसेकि वैदिक सम्प्रदाय वेदोंमें ईश्वरीय ज्ञानका, मुसलमान कुरानमें खुदाकी आयतों का और ईसाई इंजील में हजरत ईसाकी वाणीका दर्शन करते हैं। नमस्कार, भक्ति, गुणगायन पाषाणमूर्तिकी नहीं की जाती है किन्तु जिस

अर्हन्त देव का प्रतिनिधित्व वह मूर्ति कर रही है उस अर्हन्त भगवान को नमस्कार, भक्ति, पूजन, स्तवन किया जाता है। आधार के साथ आधेयका साधनके साध्यका विचार अवश्य करना चाहिये।

३–अर्हन्त देव की मूर्ति उस निश्चल, सर्वोच्च योगी की प्रतीक है जो आत्मध्यान में अटल रूप से निमग्न है, संसारका भयानकसे भयानक उपद्रव जिसको आत्मध्यानसे रंचमात्र विचलित नहीं कर सकता, शिरपर अग्नि जलाना, तीर आदि शस्त्रों से शरीर को छेद देना, अग्निमें गर्म किये गये लोहे के भूषण पहनाये जाने पर भी जिन महान योगियोंने आत्मध्यानको नहीं छोडा उस कठिन परीक्षा में उत्तीर्ण होकर जिन्होंने कर्मबन्धन तोड कर मुक्ति प्राप्त की, अर्हन्त भगवान की मूर्ति उन कर्मविजयी वीरों की स्मृतिरूप है फिर भला ये मक्खी मच्छर उसकी धीरता, गम्भीरता, निश्चलता को क्या भंग कर सकते हैं? सच्चे आदर्श का विचार कीजिये।

४—कागज कागज साधारणरूप से एक समान हैं किन्तु जिन कागजों पर धर्म ग्रन्थ अंकित हैं, राजमुद्रासे अंकित जो हुन्डी (नोटों के रूप में) है, उनका मूल्य अन्य कागजों से कितना अधिक विशेषता रखता है? इस बात को शंकाकार अच्छी तरह समझते हैं। यही बात भगवान की मूर्ति वाले पत्थर व अन्य पत्थरों के अन्तर के सबन्ध में है।

५—जिस प्रकार साधारण घरमें उत्पन्न हुआ बालक साधारण अध्यापकों से पढ़कर कालान्तर में प्रतिभा शक्तिसे जगत्पूज्य बन सकता है वैसेही साधारण पत्थर भी शिल्पी के हाथ से समवशरण में विराजमान भगवान के रूप में गढा जा कर पूज्य बन जाता है। उत्थान के ऐसे असंख्य दृष्टांत शंकाका समाधान कर सकते हैं।

६—जो वस्तु जिसके पास होती है वही वस्तु उससे मिल सकती है अर्हन्त भगवान के पास वीतरागता है। तो अर्हंत देव कुछ देना चाहे या न देना चाहे किन्तु उनसे भक्त पुरुष को वीतरागता तो मिल ही जायगी। जैसे वीर पुरुष की मूर्ति से वीरता और वेश्या की मूर्ति से कामवासना मिला करती है। वीतरागता (राग, द्वेष आदि दुर्भावोंका

छूटना) ही आत्मा के लिये सबसे अधिक मूल्यवान है।

७—यदि वस्त्रों में जूं पड़ जाती हैं तो जूं अलग कर दी जाती हैं, वस्त्र पहनना नहीं छोड़ा जाता, इसी प्रकार यदि कोई मूर्ख व्यक्ति दुष्टतावश प्रतिमा का अपमान करता है तो उस मूर्ख को ऐसी अच्छी शिक्षा देनी चाहिये कि वैसी घटना करने का साहस न हो। इस अपमान के भय से मूर्तिद्वारा आत्मशुद्धि का उपयोगी प्रयत्न छोड़ना तो बुद्धिमानी नहीं।

८—जैसे एक विद्यार्थी में अच्छा विद्वान होनेकी शक्ति है किन्तु फिर भी उसको पुस्तकों, कागजों, अध्यापकों आदि की सहायता आवश्यक है ही, अन्यथा उसकी शक्ति का विकास नहीं हो सकता इसी तरह आत्मा परमात्मा तभी बन सकेगा जब कि उस परमात्मा का आदर्श अपने सामने रखकर उसके समान शांत, धीर, निर्विकार बनने की समुचित शिक्षा उस मूर्ति से ग्रहण करेगा। अतः आत्माको परमात्मा बनाने का मार्ग वीतराग प्रतिमासे प्राप्त होता है।

९—जैन मन्दिर समवशरण (अर्हंत भगवान की दिव्य व्याख्यान सभा) के प्रतिकृति [नकल] रूप होते हैं अतः समवशरण में जो सौन्दर्य जो जो साधन सामग्री होती है मन्दिर में भी उसको जुटाने का यथा संभव प्रयत्न किया जाता है। समवशरण में देवों द्वारा निर्मित रत्न—जटित सुवर्ण का सिंहासन, छत्र, चमर आदि विभूति होती है, वैसी ही सामग्री मन्दिर में यथा संभव जुटाई जाती है, सांसारिक जनता सौन्दर्य की ओर अधिक आकर्षित होती है उसकी उस भावना को ध्यान में रख कर ही समवशरण और उसके अनुकरण रूप मन्दिरों का निर्माण किया जाता है।

किन्तु यह सब कुछ होते हुए भी दर्शनीय मूल पदार्थ को देखिये जिस वीतराग भगवान के सन्मान भक्तिमें यह बहुमूल्य सुन्दर आकर्षक साधन जुटाए जाते हैं वह अर्हंत भगवान तो सबसे अलिप्त वीतराग ही रहते हैं। अतः बाहरी सौन्दर्य से आकर्षित होकर जनता जब भगवान का दर्शन करती है तब वहां से सांसारिक रागभाव छोड़ने का ही पवित्र

भाव ग्रहण करके बाहर निकलती है। जिस तरह अबोध बालक या स्वादु प्रेमी युवक को कड़वी औषध [कुनैन आदि] मीठे बतासे में रखकर दी जाती है ऐसी ही बात इन मन्दिरों के सौन्दर्य तथा विभूतियों के सम्बन्ध में है। महात्मा गांधीजी के भाषण के लिये सुन्दर व्याख्यान सभा बनाई जाती है गीता आदि पुस्तकों की सुन्दर सुनहरी जिल्द बांधी जाती हैं उनका प्रयोजन भी तो ऐसा ही रहता है।

प्रतिमाका प्रभाव

आत्माके अन्तरंग शत्रु काम, क्रोध, अभिमान, लोभ आदि दुर्भाव हैं क्योंकि इनके ही कारण जीवका पतन होता है, इनसे ही जीवों पर अनेक संकट आ उपस्थित होते हैं, इसलिये जिन साधनों से आत्माके इन शत्रुओंका दमन होता है वे साधन आत्माके लिये उपादेय (ग्रहण करने योग्य) हैं।

क्रोध आदि विकृत भावों को शान्त करनेके लिये उपदेश सुनना, शास्त्रस्वाध्याय करना, आत्म चिन्तन करना आदि अनेक साधन हैं इन सब साधनोंसे अधिक सरल साधन 'प्रतिमा का दर्शन, पूजन है' इसका कारण यह है कि आत्मा जो बाहरी पदार्थों से प्रभावित होता है उसमें हमारे नेत्र बहुत कुछ कार्य करते हैं। नेत्रोंसे हम जो कुछ देखते हैं उसका प्रभाव तत्काल हृदय पर होता है। नेत्रोंसे मूर्तिमान पदार्थ ही दीख पड़ते हैं। इसलिये 'मूर्ति' चाहे सजीव हो या निर्जीव, आत्मा पर अपना प्रभाव डालती है।

छोटा अबोध बच्चा भी क्रोधी मनुष्यके मुखको देखकर डर कर रोने लगता है और प्रसन्न मुख-आकृतिको देखकर प्रसन्न होता है, खेलता रहता है। जो मनुष्य वीरता से प्रेम करते हैं वे शूरवीर, योद्धा, रणबांकूरे पुरुषोंके चित्रोंको अपने घरमें सजाते हैं और उनको देखकर वैसा वीर बनने की भावना करते रहते हैं, विद्याप्रेमी जन विद्वानोंके चित्र अपनी चित्रशालामें लगाते हैं, कामी पुरुष अपनी चित्रशालामें अपनी कामवासना जाग्रत रखनेके लिये सुन्दरी नग्न, निर्लज्ज स्त्रियोंके चित्रोंको लगाकर उनसे अपना मन बहलाते हैं और

धर्मरसिक धर्मात्मा साधुओंके चित्र यथास्थान लगाकर उनके दर्शनमें अपनी मनोभावना शुद्ध किया करते हैं। तदनुसार एक विद्वान ने कहा है कि "मनुष्यका स्वभाव जाननेके लिये उसके घरमें लगे हुए चित्रोंको देखलो, जैसे चित्र उसके घरमें होंगे वह मनुष्य उसी तरहकी अपनी मानसिक रुचि रखता होगा।"

इस कारण जिस मूर्तिमें काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, द्वेष, दीनता आदिकी छाया न हो यदि उस मूर्तिका ध्यानसे दर्शन किया जावे तो हृदय पर क्षमा, निष्कामता, मृदुता, सरलता, निर्लोभता का प्रभाव पड़ता है। 'अर्हन्त भगवान पूर्णज्ञानी और पूर्णशुद्ध, निरंजन, निर्विकार थे। ऐसा हम ग्रन्थोंसे जानते हैं, जिस समय उन अर्हन्त की प्रतिमा हमारी आंखोंके सामने आ जाती है उस समय हमारी वह अर्हन्त भगवान विषयक धारणा जाग्रत हो उठती है और हम अर्हन्त देवके विशुद्ध ज्ञान वैराग्यकी ओर आकर्षित होते हैं। तदनुसार उस प्रतिमामें अर्हन्त भगवानका साक्षात्कार कर लेते हैं और अर्हन्त भगवानकी स्तुति पढ़ते हुए अपनी विचारधाराको अर्हन्त भगवानके साथ जोड़ देते हैं और उससे वैसा ही लाभ उठाते हैं जैसा कि साक्षात् अर्हन्त भगवानसे उठाया जा सकता है।

यदि अर्हंत भगवान की प्रतिमा सामने न हो तो हमारी अर्हंत भगवान विषयक जानकारी वैसीही निर्बल और अधूरी रहती है, जैसे कि विना मानचित्र[नकशा] देखे भूगोल का ज्ञान। जिस तरह भूगोल के ज्ञान के लिए नकशा देखना आवश्यक है उसी तरह अर्हंत भगवान के ज्ञान के लिये अर्हंत मूर्ति देखना आवश्यक है।

किण्डर गार्डन पद्धती [चित्रों को दिखाकर पदार्थों का ज्ञान कराना] से पढ़ाना इसी कारण उपयोगी माना गया है कि उन नकली चित्रों से असली पदार्थों का ज्ञान सहज में हो जाता है।

जो सम्प्रदाय [आर्य समाज मुसलमान आदि] मूर्ति पूजा के विरोधी हैं वे भी परमात्मा या खुदा का ध्यान करते हुए उसकी मूर्तिमती लीला का चिंतवन करते हैं कि—

'हे ईश्वर ! तूने कैसे अच्छे फूल बनाए हैं सुन्दर पक्षी बनाये हैं, मनुष्य को ज्योति दी है। इत्यादि—

यानी इन मूर्तिमान पदार्थों में वे ईश्वर का दर्शन करते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि वे मूर्ति द्वारा हृदय पर होने वाले प्रभाव को स्वीकार तो करते हैं किन्तु उन्होंने अपने ईश्वर को कभी वंश परम्परा से देखा नहीं अतः उसकी मूर्ति बनाना ठीक नहीं समझते। वैसेही आर्य समाजी दयानन्द स्वामीजी, दर्शनानन्द जी, श्रद्धानन्द जी, पं० लेखराम जी आदि के चित्रोंका सन्मान करते ही हैं। सन्मान करना ही पूजा कहलाती है।

इस तरह गृहस्थ पुरुष को आध्यात्मिक शिक्षा लेने के लिये वीतराग शांत, प्रसन्न, गम्भीर-आकृति-वाली मूर्तिका प्रतिदिन निरीक्षण [दर्शन] करना, उसकी आकृति से प्रकट होनेवाले गुणोंका चिंतवन करना परम आवश्यक है। प्रत्येक जैन गृहस्थ का आदर्श परमात्म पद प्राप्त करना है, उस ध्येय की पूर्ति का सरल सीधा अवलम्बन अर्हंत भगवान की मूर्ति है।

जैसे महाभारत की कथा-अनुसार एकलव्य भील ने अदृष्ट (नहीं देखे) द्रोणाचार्यकी मिट्टी की मूर्ति बनाकर उस मूर्ति से पूर्ण शिक्षा ग्रहण की थी।

इस प्रकार जैन धर्म का मूर्ति पूजा सिद्धांत भी पूर्ण वैज्ञानिक है आदर्श है और अनुपम है।

सारांश

गृहस्थ को इन सब बातों को अच्छी तरह समझकर प्रतिदिन अपने आत्महित के लिये कुछ न कुछ अवश्य करना चाहिये। गृहस्थ द्वारा प्रतिदिन अवश्य किये जाने योग्य धार्मिक क्रियाओंको आवश्यक कहते हैं।

गृहस्थ के दैनिक आवश्यक

प्रत्येक गृहस्थ को आत्म शुद्धि के लिये, कर्मों का संवर व निर्जरा करने के लिये एवं शुभ कर्म संचय करने के लीये नीचे लिखे छह कार्य

प्रतिदिन अवश्य करने चाहिये।

१–देव पूजन, २–गुरु उपासना, ३–स्वाध्याय, ४–संयम, ५–तप, ६–दान।

प्रतिदिन प्रातःकाल स्नान करके शुद्ध वस्त्र पहन कर श्री जिनेन्द्र भगवान का अभिषेक पूजन करना देव-पूजा है यदि इतना न हो सके तो बहुत आनन्द और भक्ति से स्तोत्र पढ़ते हुए विनय से दर्शन अवश्य करना चहिये। दर्शनकरना भी देव पूजन का एक अंश है।

आचार्य, मुनि,ऐल्लक, छुल्लक, आदि व्रती महात्मा धर्म गुरु कहलाते हैं उनकी सेवा भक्ति करना, उनको विनय से आहार देना, उनका उपदेश सुनना, आज्ञा पालन करना, 'गुरु उपासना है' यदि अपने नगरमें ऐसे धर्म गुरु न हों तो परोक्ष में उनकी स्तुति पढ़कर उनके दर्शन की भावना करनी चाहिये। मुनि अथवा उत्कृष्ट, जघन्य व मध्यम श्रावक की वैयावृत्ति करना चाहिये।

अपना ज्ञान बढाने के लिये धार्मिक शास्त्र बड़ी श्रद्धा के साथ पढ़ना, सुनना, सुनाना पढाना स्वाध्याय है। स्वाध्याय करने से बिना गुरु के ही आत्मज्ञान तथा सिद्धांत का ज्ञान हो जाता है।

यत्नाचार (सावधानी से कार्य करना) से जीवों की रक्षा करना तथा यथासंभव अपनी इन्द्रियों को विषय वासनाओं से रोकना, नाच, गान, तमाशा, सिनेमा, सैरसपाटा, खान, पान आदि पर नियन्त्रण [कन्ट्रोल] लगाना संयम है। इन्द्रियों की दासता छुडाने के लिये संयम का आचरण बहुत अच्छा सरल साधन है।

सामायिक करना, व्रत, नियम आदि करना 'तप' है। तप से आत्मा शुद्ध होता है।

व्रती पुरुषों को श्रद्धा भक्ति विनय से आहार, शास्त्र, उपकरण, [कमण्डलु पीछी आदि] देना तथा दीन, दुःखी, दरिद्र, अनाथ, अपाहिज जीवोंको दया भाव से भोजन वस्त्र आदि देकर उनका दुख दूर करना 'दान' है।

प्रत्येक गृहस्थ स्त्री पुरुष को प्रतिदिन ये छहों कार्य अपनी शक्ति के

अनुसार अवश्य करने चाहियें। इनके करते रहने से आत्माके गुणों का विकास होता है, सरलता से पुण्यकर्म का उपार्जन होता है।

नैष्ठिक गृहस्थ

जो गृहस्थ अपनी आत्मश्रद्धा (सम्यग्दर्शन) के साथ नियमानुसार कुछ व्रत (पापक्रिया का त्याग) भी ग्रहण करता है उसको नैष्ठिक गृहस्थ कहते हैं। नैष्ठक श्रावक की ११ श्रेणियां हैं। इनके नाम यह हैं। १-दर्शन, २-व्रत, ३-सामायिक, ४-प्रोषध, ५-सचित्त त्याग, ६-रात्रि-भुक्ति त्याग, ७-ब्रह्मचर्य, ८-आरम्भ त्याग, ९-परिग्रह त्याग, १०-अनुमति त्याग, और ११-उद्दिष्ट त्याग।

दर्शनिक गृहस्थ

जो व्यक्ति सम्यग्दर्शन [सत्यश्रद्धा] सहित आठ मूलगुण [५ उदम्बर फलोंका तथा मद्य, मांस मधु का त्याग] निर्दोष रूप से आचरण करे तथा सात दुर्व्यसनों [बुरी आदतों] का त्याग करदे वह 'दर्शनिक श्रावक है।

मद्य [शराव] पीनेका जिसने त्याग किया है वह यदि भंग, अरिष्ट, आसव आदि पीता है तो उसका मद्य त्याग व्रत निर्दोष नहीं है।

मांस त्यागी के लिये मर्यादा से वाहर [जब तक कि उन चीजों में जीव उत्पन्न होने लगे] आचार, मुरब्बा आदि खाना सदोष है।

मधुत्यागी यदि फूल, कोंपल आदि खाता है तो उसका मधु त्याग निर्दोप नहीं है। और सूखे उदम्बर फल [अंजीर आदि] खाये जांय तो वह भी उदम्बर फल के त्याग में एक दोप है।

पहली श्रेणीका नैष्ठिक गृहस्थ इन दोपों को नहीं आने देता अतः वह निर्दोप (निरतिचार) आठ मूल गुणों का धारक होता है।

सात व्यसन

आत्मा का पतन करने वाली बुरी आदतों को व्यसन या दुर्व्यसन कहते हैं।

वे ७ हैं: १ जुआ खेलना, २ शिकार खेलना, ३ मांस खाना, ४ मदिरा (शराब) पीना, ५ चोरी करना, ६ परस्त्री सेवन करना और

७—वेश्या सेवन करना।

इन सात कामों की आदत पड जाने पर इन से छुटना कठिन हो जाता है इस कारण इनको व्यसन कहते हैं।

जुआ खेलना

कौडियों, ताश, चौपड आदि के द्वारा रुपये पैसे की हार जीत के ढंग से खेलना 'जूआ' है। परिश्रम से जी चुराने वाला मनुष्य सहजमें धनी हो जाने के विचार से जुआ खेलते हैं। जुआ में कभी दांव सीधा पड गया तो जीत हो कर कुछ रकम तुरन्त आ जाती है जो कि परिश्रम करने पर वहुत देर में मिलती है उस लाभ से लोभ उत्पन्न होता है, इसलिये और अधिक कमाने के लिये मनुष्य फिर वही खेल खेलता है। फिर जब हारता है तब सब कुछ हाथमें चला जाता है। जब पास कुछ नहीं रहता तब घर के आभूषण, वर्तन वेचकर जुआ खेलता है, वे भी समाप्त होने पर अपनी इच्छा पूर्ण करने के लिये चोरी करने की आदत पड जाती है। और कुछ चोरकर जुआ खेलता है। कभीकभी तो जुआ खेलने वाले के पास में रुपया पैसा न रहने पर वे अपनी स्त्री को दाव पर लगा देते हैं जैसे पांडवों ने द्रौपदी को दाव पर लगा दिया था।

जुआरी जब जीत जाते हैं तब उनको शराव पीने, वेश्या गमन करने, मांस खाने आदि बुरे काम करने की लत पड़ जाती है। उसी तरह विना पसीने (परिश्रम) का पैसा योंही व्यर्थ ऐश आराम में चट नष्ट हो जाता है इस तरह जुआ खेलने से सभी व्यसन लग जाते हैं।

सट्टा खेलना भी सभ्य जुआ है। जो कि दुर्भाग्य से व्यापार मान लिया गया है। अनेक धनी मानी व्यक्ति इस सट्टे से नष्ट भ्रष्ट हो चुके हैं, अतः जुआ खेलना सब तरह हानिकारक है।

शिकार खेलना

तीर, भाला, बन्दूक आदिके द्वारा जलचर, नभचर (पक्षी) और थल-चर पशुओं (हिरन, सूअर, सिंह) आदि को मारना शिकार खेलना है।

मनुष्यों को जैसे अपना जीवन प्यारा होता है। उसी तरह सब पशु पक्षियों को भी अपने प्राण प्यारे होते हैं, छल बल से उनको मारकर

प्रसन्न होना अपनी वीरता दिखलाना बड़ी भारी निर्दयता, कायरता महापाप है। शिकारी को सोचना चाहिये कि यदि अस्त्र शस्त्र छीनकर सिंह के सामने उसे छोड दिया जावे तो उसको अपने प्राण बचाने के लिये कितनी चिंता, व्याकुलता, पीडा होगी? वैसाही दुःख उन जानवरों को होता है जिनका वे शिकार करते हैं। यदि आप शक्ति शाली और बड़े [महान] हैं तो सबकी रक्षा करके अपने वडप्पन का प्रमाण दें। मारने वाले से बचानेवाला सदा बडा हुआ करता है।

मांस खाना

मरे हूए या मारकर त्रस जीवों का भक्षण करना 'मांस खाना' है। मांस खाना एक हिंसा कृत्य है। यह पेट अन्न, मेवा, फल, दूध आदि शुद्ध निरामिप पदार्थों से भी भरा जा सकता है फिर इसके लिये अन्य जीवों की हत्या करना, कराना कहां तक उचित है?

कुछ मनुष्यों का विचार है कि मांस खाने से मस्तिष्क में तथा शरीर में अन्न आदि की अपेक्षा अधिक शक्ति आती है सो यह एक भ्रान्त धारणा है। मांस एक तामसी पदार्थ है उससे दिमाग की शक्ति कुंठित हो जाती है संसार में जितने भी महान आविष्कार [ईजाद] करने वाले एडीशन, न्यूटन आदि विदेशी विद्वान हुए हैं उनमें से प्रायः कोई भी मांस नहीं खाता था।

इसके सिवाय सुकरात, प्लेटो, पैथोगोरस, जोराष्टर आदि यूनान आदि देशों के विश्व विख्यात महान व्यक्ति भी आजीवन शाकाहारी रहे। उक्त विद्वानों तथा महान पुरुषों की मस्तिष्क शक्ति मांसाहार के लिये एक चुनौती है।

भारतीय पुरुषों में तो शाकाहार का महत्व सदासे चला आया है शारीरिक शक्ति के पोषक अंश भी अन्य निरामिप पदार्थों की अपेक्षा मांस में बहुत कम है। निम्न लिखित वैज्ञानिक विवरण से यह बात प्रमाणित होती है—

बादाम में ९१ प्रतिशत शक्ति के अंश हैं।
सूखे चने मटर में ८७ " " "

चांवल में	८७	प्रतिशत शक्ति के अंश
गेहूँ के आटे में	८६	,, ,, ,,
जौं के आटे में	८४	,, ,, ,,
सूखे फल किशमिश आदि में	७३	,, ,, ,,
घी में	८७	,, ,, ,,
मलाई में	६६	,, ,, ,,
दूध में	१४	,, ,, ,,

[दूध में ८६ प्रतिशत जो पानी होता है।
होता है।] वह भी शरीर के लिये लाभदायक

अंगूर आदि फलों में	२५	,, ,, ,,

[फलों का जलीय अंश भी लाभकारक होता है।]

मांस में	२८	,, ,, ,,

[मांसका जल अंश शरीर के लिये हानिकारक होता है।

मछली में	१३	,, ,, ,,
अण्डे में	२६	,, ,, ,,

अण्डा क्या है ?

कुछ व्यक्ति भ्रम से अण्डे को वनस्पती [शाक सब्जी] समझते हैं, वह असत्य है।

क्यों कि वनस्पती की उत्पत्ति वृक्षों से बीजों से. घास आदि से होती है। अण्डा न तो किसी पेड पर लगता है और न किसी घास, बेल लता आदि से उत्पन्न होता है अतः वह वनस्पति नहीं हो सकता।

जिस प्रकार मांस नर-मादा[स्त्री] के वीर्य तथा रज के मेल से अथवा उद्भिज[सम्मूर्छन] रूप से उत्पन्न हुए रक्त वाले शरीर से प्राप्त होता है उसी तरह अण्डा भी नर मादा रूप पक्षियों तथा अन्य पशुओंके रज वीर्य से मादा के गर्भाशय में बनता है, अतः वह तो कच्चे बच्चे के रूप में मांस रूप ही होता है, जिसका परिणाम यह होता है कि कुछ दिन पीछे वह अण्डा ठीक अपने नर मादा के अनुरूप मांस वाला शरीरधारी जीव बन जाता है।

कोई भी वनस्पति [शाक सब्जी] अपनी पकी दशा में इस तरह का मांस वाला जीव नहीं बना करती।

अतः अण्डा मांस का ही एक कच्चा रूप है या यों कहिये कि वह कच्चा [पशुपक्षी का] बच्चा है। इस कारण निरामिषभोजी [मांसाहार-त्यागी] व्यक्ति को अण्डा भी कदापि नहीं खाना चाहिये।

मदिरा पान

शराब पीना 'मदिरापान' कहलाता है। शराब एक ऐसी नशीली वस्तु है जो कि मस्तिष्क (दिमाग) को निकम्मा बना देती है। शराबियों की मानसिक शक्ति शिथिल हो जाती है शराब पीने से हृदय में काम वासना तीव्र ह उठती है इस कारण शराबियों को वेश्या गमन की लत पड जाती है। शराब पीते रहने से स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है तथा शुद्ध आचार विचार जाते रहते हैं। इस आदत में पड़ा हुआ मनुष्य जब तक उसका समस्त धन नष्ट नहीं हो जाता तब तक इस बुरे काम से छुटकारा नहीं पा सकता।

शराबियों से परिवार के सब व्यक्ति तथा सज्जन मित्र वर्ग घृणा करते हैं उस पर कोई विश्वास नहीं करता। शराब पीने वालों की संगति गुण्डे, लुच्चे, बदमाशों के साथ हुआ करती है अतः वे लोग अनेक प्रयोगों से धन तथा धर्म नष्ट भ्रष्ट करा देते हैं।

इस प्रकार यह ऐसा बुरा व्यसन है कि मनुष्य जीवन को पशु जीवन बना डालता है।

चोरी करना

अन्य मनुष्य का रुपया पैसा या अन्य कोई वस्तु उसके बिना पूछे किसी भी ढँग से उडा लेना 'चोरी' है। चोरी करना भी एक व्यसन है जिस मनुष्य को यह व्यसन लग जाता है वह चाहे संपन्न उच्च घराने का ही क्यों न हो इस आदत को नहीं छोड पाता। प्राचीन कथाओं में तथा इस जमाने में भी ऐसे मनुष्य भी इस व्यसन के शिकार होते सुने गये हैं जिनके घर में किसी बात की कमी नहीं थी।

चोर का जीवन नीच श्रेणी का बन जाता है स्त्री, पुत्र, माता पिता

भी उससे घृणा करते हैं, उस पर विश्वास नहीं करते, समाज से वह बहिष्कृत (पृथक) हो जाता है, राज कर्मचारियों [पुलिस] की उस पर कड़ी दृष्टि (निगरानी) रहती है, हजारों लाखों रुपयों की चोरी करने पर भी आजतक कोई भी चोर न तो धनी हुआ, न धनी होते सुना गया, हराम का पैसा हराम में चला जाता है।

जीवन का पतन प्रायः दो बातों से होता है, 'चोरी' से और 'जारी' [व्यभिचार] से अतः यह व्यसन भी बहुत बुरा है।

वेश्या--गमन

खुले रूप से अपने रूप को चाहे जिस मनुष्य के हाथ में बेचने वाली स्त्रियां वेश्या कहलाती हैं। वेश्याएं मानव समाज का एक कलंक रूप हैं। अपना ऊपरी रूप चमक दमक का बनाकर व्यभिचार करने के लिये व्यभिचारी मनुष्यों को अपनी ओर आकर्षित करना और उनसे उस व्यभिचार के बदले में रुपया पैसा ऐंठ लेना उनका व्यापार है। इस व्यापार के लिये दिन रात में उन्हें कितने मनुष्यों को अपना शरीर बेचना पड़ता है इसकी कुछ नियत संख्या नहीं। ऊंच नीच, रोगी, निरोगी सभी तरह के मनुष्य उनके पास आते हैं। ज्ञान का पुतला वेश्या रजस्वला होते हुए भी अपना व्यापार नहीं छोड़ती इसी कारण वेश्याएं प्रायः उपदंश (गर्मी) के रोग की शिकार हुआ करती हैं और वह रोग प्रसाद के तौर पर वेश्याओं से क्रीड़ा करने वाले रंडीबाजों को लग जाता है। वह रोग बड़ी वेदना देता है। लाखों अरबों रुपये मनुष्य वेश्या व्यसन में फंसकर नष्ट करके स्वयं दरिद्र बन जाता है, निर्धन हुए मनुष्य को वेश्या जूतों से मार लगवा कर बाहर निकाल देती है, वेश्याका प्रेम केवल धन के साथ होता है।

इस तरह वेश्या गमन व्यसन भी मनुष्य का जीवन नरकमय बना डालता है।

परस्त्री—सेवन

अपनी विवाहिता स्त्री के सिवाय संसारकी जितनी भी कुमारी,सधवा

विधवा स्त्रियां हैं वे सब पर-स्त्री कहलाती हैं उनसे काम क्रीड़ा करना 'परस्त्री-सेवन' कहलाता है।

मनुष्यका कर्तव्य है कि जब वह अपनी बहिन, बेटी, स्त्री, माता आदि को सदाचारिणी देखना चाहता है, यदि कोई व्यक्ति इनकी ओर कामवासनाकी दृष्टि से देखे या उनके साथ कामसेवन करे तो उसको बहुत आघात पहुंचता है, तो वह भी दूसरों की बहन बेटी स्त्री आदि को बुरी दृष्टि से न देखें, क्योंकि ऐसा करने से दूसरों को असह्य दुःख होता है।

परस्त्री सेवन के कारण संसार में अनेक युद्ध हुए हैं; राम-रावण कौरव पांडव का विश्व विख्यात महायुद्ध इसी बात पर हुआ, वीर क्षेत्र भारत इसी व्यसन के कारण (पृथ्वीराज चौहान द्वारा संयुक्ता हरण के कारण से) परतंत्र बना। मुसलमानी साम्राज्य तथा लखनऊ की नवाबी इसी परस्त्री सेवन व्यसन की आड़ में नष्ट भ्रष्ट हो गई। इतिहास के पन्ने इस व्यसन के विषफल की साक्षी दे रहे हैं।

इस कारण इस दुर्व्यसन से सदा बचना चाहिये।

वेश्या किसी व्यक्तिकी स्त्री नहीं होती वह सर्व साधारणकी स्त्री (बाजारू स्त्री) कहलाती है। पर-स्त्री किसी एक व्यक्ति) भूत, भविष्यत् और वर्तमान) की स्त्री होती है, वेश्या और पर-स्त्रीमें यह अन्तर है।

प्रथम श्रेणी (प्रतिमा) का गृहस्थ जीवनको नष्ट, भ्रष्ट, कलंकित करने वाले इन सात दुर्व्यसनोंका त्याग कर देता है।

तथा—अपनी सत्य श्रद्धा (सम्यग्दर्शन) को निर्दोषरूपसे सुरक्षित रखता है इसके लिये वह सम्यग्दर्शनको सुन्दर बनाने वाले आठ अंगों का पालन करता है और २५ दोषोंसे उसको बचाता है।

१—निशंका, २—निकांक्षा, ३—निर्विचिकित्सा, ४—अमूढ़दृष्टि, ५—उपगूहन, ६—स्थितिकरण, ७—वात्सल्य और ८—प्रभावना ये सम्यग्दर्शनके, ८ आभूषण (अंग) हैं।

निःशंका

जिस व्यक्तिको आत्मा, अनात्माका भेदविज्ञान होगया है, सत्य देव गुरु शास्त्रकी दृढ़ श्रद्धा हो गई है उसको युक्ति द्वारा निश्चित न हो सकने योग्य सूक्ष्म विषयोंमें अर्हन्तवाणीको प्रमाण मानना चाहिये और आगम (जिनवाणी) के विरुद्ध कोई भी शंका अपने हृदयमें न रखनी चाहिये, जो बातें तर्क वितर्क से विचार की जा सकती हैं उनकी युक्तिसे परीक्षा करे, उन्हें अन्ध श्रद्धासे न माने किन्तु जहां युक्तिका प्रवश न हो सके वहां आगमको आधार माने. अपना हृदय शंकाकुल न रक्खे।

तथा—अपने आत्माको अजर अमर समझता हुआ संसारमें किसी भी भयसे भयभीत न होवे केवल पाप-अन्याय करनेसे डरता रहे, 'जैसा सर्वज्ञ जानते हैं वैसा अवश्य होगा, उनमें रंचमात्र भी अन्तर न आने पावेगा' ऐसा अपने हृदयमें दृढ़ निश्चय करके अपना स्व पर हित कारक कार्य करता चला जावे—किसी भी भयसे शंकित न होवे, निःशंक (निर्भय) बना रहे। यह निशंका या निःशंकित गुण है।

निःकांक्षा

आत्म-श्रद्धालु व्यक्तिको आत्म अनुभवमें जो अनुपम आनन्द मिलता है वैसा आनन्द संसारके किसी भी विषय भोगमें उसको नहीं मिलता अतः सांसारिक, जड़, अस्थिर, आकुलतामय विभूतिको हेय तथा हेय समझता है।

> चक्रवर्तिकी संपदा, इन्द्र सरीखे भोग।
> काकवीट सम गिनत हैं, सम्यग्दृष्टि लोग॥

यानी—सच्ची श्रद्धाधारी व्यक्ति चक्रवर्तीके साम्राज्य और इन्द्र (देवोंके अधिपति) की विशाल भोग सामग्रीको कौएकी बीट (टट्टी) के समान त्याज्य समझता है।

सांसारिक सुखकी उसे इच्छा नहीं हुआ करती क्योंकि वह समझता है कि—

कर्मपरवशे सान्ते दुःखैरन्तरितोदये ।
पापबीजे सुखेनास्था श्रद्धानाकांक्षणा स्मृता ॥

यानी—सांसारिक सुख कर्म अधीन है—साता आदि शुभ कर्मों का उदय होवे तो सुख होता है, अन्यथा नहीं, सीमित है—कुछ समय तक रहता है, सांसारिक सुखके बीच बीच में इष्टवियोग, अनिष्ट संयोग, शरीर वेदना आदि दुख भी होते रहते हैं, विषय भोगोंका सुख पापका बीज है—विषय सुख भोगनेमें पाप बन्ध हुआ करता है, ऐसे सांसारिक सुख पानेकी इच्छा तत्त्ववेत्ता सम्यग्दृष्टी नहीं करता है। वह अतीन्द्रिय, स्वाधीन, निरन्तर स्थायी, पवित्र आध्यात्मिक सुखको चाहता है।

इस प्रकार सच्ची श्रद्धा वाला पुरुष निष्कामरूपसे स्व-पर-उपकारी कार्य करता है यह उसका निःकांक्षित गुण है।

निर्विचिकित्सा

सम्यक् श्रद्धालु व्यक्ति तात्त्विक दृष्टिसे समझता है कि यह शरीर मल मूत्र, रक्त, पाप, मांस, हड्डी, कफ आदि अपवित्र घृणित पदार्थों का भंडार है और इसमें रहनेवाला आत्मा अनेक गुणोंका भंडार है। ऐसा समझ कर वह साधु आदि धार्मिक पुरुषोंके मलिन, असुन्दर शरीरसे (उनके गुणों पर दृष्टि रखता हुआ) घृणा नहीं करता—उनके गुणोंसे प्रेम करता हुआ उनकी सेवा सुश्रूषा करता है।

यदि कोई दीन दरिद्र दुखी व्यक्ति है तो उसके फटे चिथड़े कपड़ों या उसके मलिन शरीर पर ध्यान नहीं देता वह उसकी दुःखित आत्मा पर दया करके उसके दुख दूर करनेकी पूर्ण चेष्टा करता है।

इस तरह दूसरोंसे घृणा (नफरत) न करना सम्यग्दृष्टिका निर्विचिकित्सा नामक गुण है।

अमूढ दृष्टि

आत्माका सच्चा श्रद्धालु पुरुष चाहे सांसारिक कार्यों से अनभिज्ञ (अजानकार) रहे क्योंकि उधर उसकी रुचि नहीं होती है, वह सांसारिक चतुराईको अधिक उपयोगी नहीं समझता किन्तु धार्मिक

विषयमें मूढ़ (अनभिज्ञ) नहीं रहता । जीव, अजीव, संसार, मोक्ष, आस्रव, संवर, बन्ध, निर्जरा, देव, शास्त्र, गुरु आदि आत्म-उपयोगी विषयोंका अच्छा जानकार होता है । इसी कारण लोग उसको व्यवहार में ठग सकते हैं किन्तु परमार्थ (धर्ममार्ग) में उसको कोई धोखा नहीं दे सकता ।

इस प्रकार तत्त्ववेत्ता (विद्वान) होना सम्यग्दृष्टिका अमूढदृष्टि अंग है ।

सम्यग्दर्शनके ये चारों अंग व्यक्तिगत रूपसे सम्यग्दृष्टिका निजी कल्याण करने वाले हैं ।

उपगूहन

किसी धर्मात्मा गुणी पुरुषसे शारीरिक, मानसिक, आर्थिक निर्बलतावश किसी प्रतिकूल परिस्थितिके कारण अथवा प्रमादवश (असावधानीसे) कोई त्रुटि होगई हो, कुछ अपराध हो
आचरणमें कोई दोष लग गया हो तो सम्यग्दर्शनधारी उस व्यक्तिके उस दोषको सर्वसाधारणमें उसे अपमानित करनेके लिये प्रगट नहीं किया करता, बल्कि जैसे तैसे उस दोषको छिपा देता है जिससे उस व्यक्तिका अनादर न होने पावे ।

तथा—अपनी प्रशंसा, मान, बडाई, यश फैलाने की चेष्टा भी सम्यग्दृष्टि नहीं करता है क्योंकि वह अपने आध्यात्मिक दोषों पर दृष्टि रखता हुआ ऐसा करना उचित नहीं समझता ।

इस प्रकार वह दूसरे मनुष्योंके गुणोंको तो जनतामें प्रगट करता है किन्तु उनके दोषों पर पर्दा डालता है तथा अपने गुणोंको (अपनी मान बडाई पानेके विचारसे) प्रगट नहीं करता बल्कि आत्मसुधारकी दृष्टिसे अपने दोषोंको प्रगट करता है । उसकी इस चेष्टासे समाजके उत्थानमें बहुत सहायता मिलती है । क्योंकि दूसरोंके दोष सर्वसाधारणमें कहने—प्रगट करनेसे वह व्यक्ति लोगोंकी दृष्टिमें गिर जाता है जिससे समाज उससे घृणा करने लगता है । इसका फल प्रायः यह होता है कि वह मनुष्य अपने समाजसे दूर होता जाता; है और यदि उसको निकट

सम्पर्कमें न लाया गया तो वह धर्मसे भी दूर हो जाता है। इस कारण दूसरोंको सुधारनेकी चेष्टा करनी चाहिये—बिगाडनेकी नहीं।

यह उपगूहन अंग है।

स्थितिकरण

मनुष्यमें अनेक प्रकारकी निर्बलताएं होती हैं उन निर्बलताओं के कारण मनुष्य अपने जीवनमें अनेक बार पथभ्रष्ट हो जाता है, तथा कर्तव्य से च्युत हो जाता है और कभी कभी तो जीवन से भी अधिक प्रिय अपने धर्म को भी छोडने के लिये तयार हो जाता है ऐसी दशा में यदि उसको कोई संभालने वाला सहारा न मिले तो सचमुच अपना धर्म भी छोड बैठता है। समाज हितैषी धार्मिक पुरुष का कर्तव्य है कि धर्म से पतित होने वाले व्यक्ति का शक्ति भर संरक्षण करे, समुचित उपायों से उसे धर्म-श्रद्धा में तदा सत् आचरण में फिर स्थिर करदे। ऐसा करने से समाज का एक अंग टूटने से बच जाता है और सामाजिक शक्ति क्षीण नहीं होने पाती।

कुछ अनाथ बच्चे निराश्रित दरिद्र विधवाएं अपनी पेट की ज्वाला बुझाने के लिये इतर धर्मानुयायी हो जाते हैं, कुछ युवक अपने समाज में विवाह न हो सकने से विधर्मी सम्प्रदाय में जाने को तयार हो जाते हैं, कुछ लोग संकट के समय अपने समाज की सहानुभूति न मिलने पर सहायता देने वाले अन्य सम्प्रदाय में जा मिलते हैं, कुछ लोग समाज से ठुकराये जाने पर धर्म छोड देते हैं, बहुत से मनुष्य धर्म उपदेश न मिलने पर अन्य धर्मियों के सहवास से अन्य धर्मानुयायी हो जाते हैं, कुछ युवती कन्यायें अपने पिता द्वारा दहेज न दे सकने के कारण विवाह नहीं कर पातीं, विवश होकर वे अन्य धर्मियों के साथ व्याह दी जातीं हैं। इत्यादि अनेक कारणों से मनुष्य पथभ्रष्ट होकर धर्मभ्रष्ट हुआ करता है। समाज-हितैषी सम्यग्दृष्टी पुरुष ऐसी बात सहन नहीं कर सकता और वह प्राणपण से चेष्टा करता है कि उसका कोई भी व्यक्ति समाज से पृथक न होने पावे।

इसके लिये वह कहीं शरीर से सेवा करता है, कहीं मुख से मीठे वचनों द्वारा उपदेश देता है, कहीं अपना धन खर्च करता है, कहीं अपने पुत्रका किसी निर्धन सुयोग्य कन्या से पाणिग्रहण कराकर उसको अन्य सम्प्रदाय में जाने से बचाता है, कहीं धनहीन किन्तु सुयोग्य पुरुषार्थी युवक का विवाह सम्बन्ध करा देता है, अनाथ बच्चों, विधवाओं के पालन पोषण का यत्न करता है। यानी जिस भी उचित ढंग से हो धर्म से पतित होने वाले व्यक्ति को सहायता देकर उसको फिर अपने धर्म साधन में तथा समाज में स्थिर कर देता है।

इस प्रकार के समाज संरक्षण को "स्थितिकरण" गुण कहते हैं।

वात्सल्य

अपने समाज के प्रत्येक व्यक्ति से अपने भाई जैसा प्रेम करना अथवा गाय बछड़े जैसा स्नेह करना 'वात्सल्य' गुण है।

मनुष्य को बांधने के लिये प्रेम एक अनुपम, दृढ़, अटूट बन्धन है प्रेम (वात्सल्य) के कारण मनुष्य बंधा रहता है, जिस समाज में प्रेम-बन्धन शिथिल पड़ जाता है वह समाज बिखर कर टूट फूट जाता है।

अपने प्रत्येक भाई (समाज के व्यक्ति) के सुख दुख में सम्मिलित होना, सहानुभूति दिखलाना, उसके अभ्युदय (उन्नति) में प्रसन्न होना, उसके कष्ट में दुखी होना, प्रेम भाव का मूल-आधार है। हजारों मील दूर रहने वाले भी अपने सामाजिक भाई पर यदि कोई विपत्ति आई हो तो हृदय में व्याकुलता उत्पन्न होना और जैसे बन सके वैसे तन मन धन से उसके दुख मिटाने की चेष्टा करना सामाजिक प्रेम का लक्षण है।

एक एक व्यक्ति को मिल कर समाज बना करता है अतः अपने किसी भी व्यक्ति की उपेक्षा न करनी चाहिये, व्यक्तिगत स्वार्थ को गौण रखकर सामाजिक स्वार्थ को प्रधानता देनी चाहिये। जिससे सामाजिक संगठन शक्तिशाली हो। 'कलौ संघे शक्तिः यानी इस कलि कालमें संगठनमें ही शक्ति है। इस बात को ध्यानमें रखकर सामाजिक प्रेम प्रसार द्वारा संगठन को दृढ़ करना चाहिये।

यह सम्यग्दर्शनधारी का 'वात्सल्य' अंग है।

प्रभावना

ऐसे असाधारण अच्छे कार्य करना जिनके कारण अपने धर्म का प्रभाव जनता पर पड़े 'प्रभावना' अंग है।

प्रत्येक व्यक्तिका नैतिक कर्तव्य है कि अपने विश्वहितकारी धर्म को विश्वव्यापी बनानेके लिये यथासंभव अपनी समस्त तन, मन, वचन, धनकी शक्तियोंको यथास्थान यथावसर लगाकर धर्मका प्रसार करे।

सबसे पहले अपने आपको सुधारकर आदर्श सदाचारी बनें जिससे अपने तन, मन, वचन, आत्मामें दूसरोंको प्रभावित करनेकी ठोस शक्ति उत्पन्न हो, जो व्यक्ति स्वयं पतित, कदाचारी, दुराचारी, दंभी, ढोंगी होता है वह दूसरो पर प्रभाव नहीं डाल सकता अतः पहले स्वयं सुधरना आवश्यक है।

तदनन्तर दीन उद्धार, पर उपकार, आदर्श जनसेवा, प्रभावशाली मधुर भाषण, उपयोगी पुस्तक वितरण आदि कार्यों द्वारा अन्य जनता पर अपने मनोभावों की छाप लगानी चाहिये। शंका समाधान करके, मधुर शब्दोंमें स्वपक्षमण्डन, परपक्षखण्डन मौखिक रूपसे या लेख रूपसे करना भी प्रभावना की एक सुन्दर प्रणाली है। अन्यधर्मी विद्वानों से प्रेमगठन करके उनको उपयोगी ग्रन्थ भेंट करना प्रभावना का एक अंश है।

बड़ी भक्ति पूर्वक रोचक ढंगसे पूजन स्तवन करना (मुलतानमें अष्टान्हिका पर्युषण तथा अन्य पर्वदिनोंमें ऐसी मधुर स्वरसे पूजन, आरती आदि सामूहिक ढंगसे की जाती थी कि उसे सुननेके लिये मार्ग चलते व्यक्ति भी मंदिरमें आजाते थे) तपस्या करना, मेला, प्रतिष्ठा करना, दान देना, सुन्दर मंदिर बनवाना, लोक-उपयोगी कार्य करना आदि जिस किसीभी कार्यसे अपने धर्मका प्रभाव अन्य व्यक्ति के हृदय पर पड़े, उसका हृदय अपनी ओर आकर्षित हो वे सभी कार्य 'प्रभावना' अंगमें सम्मिलित हैं। यह 'प्रभावना' समाजहितैषी सम्यग्दृष्टी धर्मात्मा का आवश्यक गुण है।

इस तरह ये पिछले चारों अंग समाज-उन्नतिके लिये उपयोगी हैं।

सम्यग्दर्शनके दोष

जिस व्यक्तिको यथार्थ आत्मश्रद्धा हो उसको अपनी श्रद्धाके मलिन करने वाले २१ दोषों से अवश्य बचना चाहिये। उन दोषोंका विवरण यह है।

पीछे कहे गये निःशंका आदि ८ गुणों (अंगों) के विपरीत क्रमशः '१ शंका (अर्हन्तवाणीमें सन्देह कहना) २—कांक्षा (सांसारिक भोगोंकी इच्छा), ३—विचिकित्सा (बाहरी शारीरिक असुन्दरता के कारण धार्मिक व्यक्ति--मुनि आदिसे तथा दीन दरिद्र दुखी मनुष्यसे घृणा करना) ४—मूढ़दृष्टि (सांसारिक बातोंमें चतुर और धार्मिक बातोंमें मूर्ख रहना), ५—अनुपगूहन (अन्य व्यक्तिके दोष और अपने गुणोंका प्रदर्शन करना), ६—अस्थितिकरण (धर्म पथसे विचलित व्यक्तिको और धक्का देना, गिराना), ७—अवात्सल्य (सहधर्मी व्यक्तिसे ईर्ष्या, द्वेष, डाह, जलन रखना), ८—अप्रभावना (धार्मिक प्रचारमें सहायक न होकर, बाधक बनना)' ये आठ दुर्गुण हैं।

तथा ८ मद (अभिमान), ६ अनायतन (अधर्मके आधार) और ३ मूढ़ता ये सब मिलकर २५ दोष हैं।

जो दुर्गुण मनुष्य को मत्त (पागल) बना देता है या जिस के कारण मनुष्य अपनी स्थिति को ठीक नहीं समझ पाता, अपने आप को आवश्यकता से अधिक बडा और दूसरे को छोटा-नीचा समझने लगता है उसको 'मद' या 'अभिमान' कहते हैं।

मद के आठ प्रकार होते हैं १ कुलमद २ जातिमद ३ रूपमद ४ - विद्यामद ५ धनमद ६ बलमद ७ तपमद और ८ अधिकार मद।

अपने पिताके वंश (घराने) का अभिमान करना कि हमारा पिता चाचा, बाबा, भाई आदि उच्च पद अधिकारी है बलवान है, धनिक प्रभावशाली आदि है, हम किसी को कुछ नही समझते, हमारी बराबरी कौन कर सकता है इत्यादि कुलमद है।

अपने माता के वंश (घराने) का घमंड करना कि हमारा नाना,

मामा आदि राजा है, पहलवान है, धनकुबेर है, बड़ा विद्वान है इत्यादि जातिमद है।

अपने शारीरिक सौन्दर्य का अभिमान प्रकट करना 'रूपमद' है।

अपनी विद्वत्ता (ज्ञान) का गर्व करना, दूसरों को मूर्ख बतलाकर उनका उपहास करना 'ज्ञानमद' है।

अपने धन वैभव का घमंड दिखलाना, दूसरों को धनहीन समझकर उनका तिरस्कार करना 'धनमद' है। धनमद का नशा अन्य मदों की अपेक्षा मनुष्यों को बहुत कर्तव्य भ्रष्ट कर देता है। एक कविने कहा है कि— कनक(धन) कनक (भंग) तै सौगुनी मादकता अधिकाय।

जा खाए बौरात है, जा पाये बौराय॥

अपनी शारीरिक शक्ति, सैनिक शक्ति, दल शक्ति का अभिमान करके अन्य बलहीन व्यक्तिका अपमान करना उसे सताना बलमद है।

अपने उच्च आचरण [चारित्र] तपस्या संयमका घमण्ड दिखलाना दूसरोंको अधर्मी शिथिलाचारी हीनाचारी समझ उनका उपहास करना 'तपमद' है।

अपने राजनैतिक उच्च पद (पुलिस, सेना, न्याय विभाग, शासन आदि विभाग में कमिश्नर जनरल, जज; राज्यपाल आदि पद मिल जाने पर अपने अधिकार) का गर्व दिखलाना कि मुझे इतना अधिकार है कि मैं चाहे जिस व्यक्ति को गिरफ्तार कर सकता हूं; जेल भिजवा सकता हूं आदि 'अधिकार मद' है। संसार के अन्य सभी अभिमान इन ८ मदों में गर्भित हैं।

कोई भी व्यक्ति अपना बड़प्पन सिद्ध नहीं कर सकता क्यों कि संसार में एक से एक बढ़कर व्यक्ति मिल जाता है; अतः मनुष्य अपनी किसी बात का गर्व करता है उसको किसी दिन नीचा अवश्य देखना पड़ता है। सम्यग्दर्शन धारक पुरुष इन अभिमानों से दूर रहता है क्यों कि अभिमान करने से सम्यग्दर्शन स्वच्छ नहीं हो पाता। ओछा अधूरा पुरुष ही अपनी किसी बातका अभिमान दिखाकर दूसरों को हीन समझा करता है किन्तु जिस तरह पर्वत पर खड़ा हुआ मनुष्य पर्वत

की तलहटी में खडे मनुष्यों को छोटे आकार में देखता है उसी तरह तलहटी में खडे पुरुषों को वह भी छोटा दिखाई पडता है। यानी अभिमानी पुरुष जैसे दूसरों को हीन समझकर उनसे घृणा करता है उसी तरह दूसरे लोग भी उसे नीच समझकर उससे घृणा करते हैं।

इस कारण किसी भी तरह का अभिमान कदापि न करना चाहिये, सबके साथ नम्रता का बर्ताव करने वाले मनुष्यके साथ सब कोई प्रेम करता है। अतः अभिमान छोडकर नम्र विनीत बनना सब तरह लाभ दायक है।

अनायतन

जहां से सत् धर्म प्राप्त न हो सके यानी जो धर्म के 'आयतन'—स्थान न हों उनको 'अनायतन' कहते हैं।

अनायतन ६ माने गये हैं— १ कुदेव, २ कुगुरु ३ कुधर्म, ४ कुदेव का भक्त, ५ कुगुरु का सेवक, ६ कुधर्म का अनुयायी।

जिस देवमें साधारण मनुष्यों के समान क्रोध, लोभ, द्वेष, काम माया भय आदि दुर्गुण विद्यमान हों उन दुर्गुणों के प्रतीक अस्त्र, शस्त्र; वस्त्र आभूषण स्त्री आदि जिसके पास हों उस देव की उपासना से मनुष्य को कुछ भी आध्यात्मिक लाभ (आत्माकी स्वच्छता) प्राप्त नहीं होता अतः ऐसे देव सुदेव (सच्चे विश्व हितङ्कर निर्विकार) नहीं हैं कुदेव हैं उनकी उपासना से रंचमात्र भी धर्म प्राप्त नहीं हो सकता।

जो साधुका वेष बनाकर भी अपने पास रुपया, पैसा, डण्डा, लाठी आदि रखते हैं, भंग, चरस, गांजा पीते हैं लोगोंको सट्टे के दांव बताते हैं, यंत्र मंत्र आदि करके लोगोंको कुमार्ग में लगाते हैं, क्रोध, मान, माया लोभ के जो शिकार हैं, जिनको जड आत्मा, परमात्मा, संसार, मोक्ष आदि का न कुछ परिज्ञान है, न जिनका त्यागमय आचरण है तथा जो जिव्हा के लोलुपी हैं मायामें फसे हैं वे कुगुरु हैं। उनकी वंदनासे मनुष्य अपना कुछ कल्याण नहीं कर सकता। अतः कुगुरु भी अनायतन है।

जिन धर्मों में देवी, देवता, परमात्मा, खुदा को प्रसन्न करने के लिये मुर्गी, बकरा, सुअर, गाय घोडा आदि पशुओंकी बली देनेका विधान हो

स्वर्ग, धन, राज्य, पुत्र आदि प्राप्त करने के लिये पशुओं को मारकर यज्ञ करने का जहां उपदेश हो, अपने शत्रुओं को मारने का जहां आदेश दिया गया हो यानी—जिन हिंसा आदि पाप कृत्यों से आत्माका पतन होता है उन कामों को भी जहां धर्म का लेप पहनाया गया हो वह 'कुधर्म' है उसके उपदेश का अनुकरण करनेसे इस आत्मा का पतन होता है, अतः वह भी अनायतन है।

कुदेव का भक्त जब स्वयं पथ भ्रष्ट है तब उसके अनुकरण से धर्म भावना कहां से आ सकती है ? अतः वह भी अनायतन है।

कुगुरु के सेवक जब स्वयं अन्ध श्रद्धा में फसकर धर्म साधनासे दूर रहा करते हैं क्यों कि उन्हें अपने गुरुसे आत्म शुद्धि का उपदेश आदेश, नहीं मिल पाता है। अतः यदि उन कुगुरु भक्तों की भक्ति की जावे तो रंचमात्र भी आध्यात्मिक, मानसिक पवित्रता नहीं मिल सकती, कषाय मंद करने का प्रोत्साहन नहीं मिलता अतः कुगुरुसेवक भी अनायतन है।

कुधर्म से धर्म प्रणाली जब स्पष्ट रूप से एक भिन्न वस्तु है तब उस कुधर्म का अनुयायी आत्मा को शांति, संतोष, दया आदि गुण कहां से दिला सकता है। उससे तो वैसे ही पशु बलिदान जैसे कृत्यों का प्रोत्साहन मिलेगा अतः कुधर्म का भक्त पुरुष भी धर्म की दृष्टि से अनायतन है।

इन अनायतनों की सेवा, भक्ति, पूजा, अनुकरण प्रचार आदि से आत्मा को पवित्र करनेवाले धर्म की प्राप्ति नहीं होती अतः सम्यग्दृष्टि पुरुष इन अनायतनों के निमित्त से अपनी पवित्र श्रद्धा को दूषित नहीं होने देता।

धार्मिक विषय में अनभिज्ञता (अजानकारी) या मूर्खता को 'मूढता' कहते हैं। मूढता के तीन भेद होते हैं—१ देवमूढता, २ गुरुमूढता, ३ लोकमूढता।

देव-मूढता

'जीवने अपने अच्छे बुरे कार्यों से जैसा भी अपना अच्छा बुरा भाग्य

बनाया है उसीके उदयानुसार जीव को सुखदायक दुखदायक सामग्री मिला करती है; उसको कोई भी देवी देवता कम अधिक नहीं करसकता इस अटल सिद्धांत को भूलकर चंडी, काली, भेरों आदि विविध देवी देवताओं की उपासना करके अपने दुख संकट मेटने का अथवा पुत्र, धन राज्य आदि पाने का यत्न करना 'देव मूढता' है।

जिनको धर्म अधर्म कर्म कर्मफल सुख दुख आदिका विवेक नहीं होता ऐसे ही लोग देवमूढता के शिकार हुआ करते हैं।

गुरु-मूढता

जो आत्मशुद्धि, मंद कषाय, विशेषज्ञान, त्याग तप संयम आदि गुणों में गृहस्थ लोगोंसे बड़ा हो गौरव शाली हो विषय आशाओं का विजेता (जीतनेवाला) हो वह गुरु (धर्मगुरु) होता है। जो लोग साधु का रूप बनाकर रुपया पैसा एकत्र करवाते, स्वादिष्ट भोजन करने की लालसा जिनमें जाग्रत रहती है, जो क्रोध, मान, माया लोभ कषायों से कलुषित हैं तप त्याग संयम जिनके पास नहीं वे लोग गुरु नहीं होते. किसी पुत्र धन आदि की आशा से या श्राप (बुरी आशिष-बद दुआ) के भय से अथवा प्रेमवश ऐसे लोगोंकी सेवा सुश्रषा करना उनको धर्मगुरु मानना 'गुरुमूढता' है।

लोक-मूढता

लोगोंकी देखादेखी ऐसे काम करने में धर्म मान लेना जिनसे धर्म साधना का आत्मा के पवित्र होनेका कुछ भी संबन्ध नहीं उसको 'लोक-मूढ़ता' कहते हैं। जैसे नदी समुद्र में स्नान करने से पीपल पूजने से, श्राद्ध कर पिंडदान करने से, तुलसी पूजने आदि कामों से धर्म समझ लेना।

जिस मनुष्य के हृदय में विवेक है जो यथार्थ देव शास्त्र व गुरु को पहचानता है, जिसको धर्म तत्त्वों का पक्का श्रद्धान है, वह सच्ची श्रद्धा वाला व्यक्ति इन मूढताओं से अछूता रहता है।

सारांश यह है कि पहली श्रेणी (प्रतिमा) का नैष्ठिक गृहस्थ सम्यग् दर्शन में इन २५ दोषों का समावेश नहीं आने देता।

जो वस्तुएं भक्षण करने [खाने] योग्य नहीं होती हैं उनको अभक्ष्य कहते हैं।

अभक्ष्य पदार्थ पांच तरह के हैं—१ त्रस घातक, २ बहु स्थावर घातक ३ मादक, ४ अनिष्ट, ५ अनुपसेव्य।

जिन पदार्थों के खानेसे त्रस जीवों की हिंसा हो वे त्रस घातक वाले अभक्ष्य पदार्थ हैं, जैसे मांस, दहीवडा आदि द्विदल [किसी भी दाल की बनी हुई पकौडी आदि को कच्चे दूध या कच्चे दूध से बने दही में लार मिलानेसे त्रस जीव उत्पन्न हो जाते हैं, ऐसी चीजों को विदल या द्विदल कहते हैं] कमल का नाल गोभी का फूल अंजीर, गूलर, आदि उदम्बर, २४ घंटे मे पीछे के अचार, मुरब्बे आदि इन चीजों में दो इन्द्रिय आदि त्रस कृमि [सूक्ष्म जीव] उत्पन्न हो जाते हैं अतः ये चीजें खाने योग्य नहीं हैं।

कुछ वनस्पतियां ऐसी होती हैं जिनमें एक एक में अनन्तों स्थावर जीव होते हैं यानी वह एक वनस्पति अनन्त स्थावर जीवों का शरीर होती है। जैसे आलू, शकरकन्दी, गाजर, अरुई, प्याज, लहसुन, अदरक, मूली की जड आदि कन्दमूल, जमीकन्द। यानी जिन वनस्पतियों को सूर्य का प्रकाश नहीं छूता तथा बिलकुल कच्चे [जिसमें गुठली बीज आदि न पड़े हों ऐसे] फल एक एक पदार्थ के खाने से उन पदार्थों के अनन्त (अगणित) स्थावर जीवों का घात होना है। अतः जीवहिंसा से बचने वाले दयालु पुरुष को ऐसे पदार्थ कभी न खाने चाहिये।

जो पदार्थ नशा उत्पन्न करने वाले हैं वे मादक कहलाते हैं जैसे शराब, भांग, चरस, तम्बाखू, सिगरेट, बीडी, महुआ चाय आदि। इन पदार्थों का सेवन मनुष्य के मस्तिष्क [दिमाग] को खराब कर देता है इस कारण ये सब नशीले पदार्थ अभक्ष्य हैं।

जिन वस्तुओं के खाने से स्वास्थ्य [तन्दुरुस्ती-तबियत] खराब होता है जो रोग उत्पन्न करते हैं रोग को बढ़ा देते हैं वे 'अनिष्ट अभक्ष्य' हैं जैसे हैजा के रोगी को पानी, अतिसार (दस्तों) के रोगी को दूध।

जो चीजें अच्छे कुलीन पुरुषों के खाने पीने योग्य नहीं होती वे अनुपसेव्य अभक्ष्य हैं। जैसे झूठा भोजन, मूत्र, लार, धोबी, चमार, मेहतर आदि का भोजन पानी चमडे में भरा हुआ घी, पानी आदि।

अभक्ष्य पदार्थों की इन ५ श्रेणियों में संसार के समस्त अभक्ष्य पदार्थ सम्मिलित हो जाते हैं। धार्मिक गृहस्थ को इन अभक्ष्य पदार्थों का त्याग करना चाहिये। अभक्ष्य वस्तुओं के खान पान से केवल जीवहिंसा ही नहीं होती बल्कि स्वास्थ्य भी खराब होता है इस कारण दोनों दृष्टियों से अभक्ष्य पदार्थों का खान पान छोड़ देना उचित है।

२—व्रत श्रेणी (प्रतिमा)

जो गृहस्थ पहली श्रेणीके यम नियमों के साथ निम्नलिखित बारह व्रतोंको ठीक विधिसे आचरण करता है वह दूसरी श्रेणीका नैष्ठिक श्रावक है।

५ अणुव्रत, ३ गुणव्रत, ४ शिक्षाव्रत ये गृहस्थके १२ व्रत हैं।

अणुव्रत

हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन सेवन और परिग्रह इन पांच पापोंका स्थूल रूपसे त्याग करना 'अणुव्रत' है।

अहिंसा-अणुव्रत

संकल्पसे (जान बूझकर इरादतन) त्रसजीवोंकी हत्या न करना 'अहिंसा' अणुव्रत है।

गृहस्थाश्रममें रसोई बनाने, व्यापार करने, अपने घर परिवारकी रक्षा करने आदि कार्योंमें आरम्भी, उद्योगी और विरोधी हिंसाका त्याग नहीं हो सकता, सावधानी रखते हुए भी आग जलाने, बुहारी देने, पानी फैलाने, चीजोंको उठाने रखने खेती करने चोर, डाकू, गुंडे, बदमाश तथा शत्रुसे लड़नेमें त्रसजीवोंकी हिंसा हो ही जाती है, इस कारण गृहस्थ इन हिंसाओंका त्याग नहीं कर सकता यह तो संकल्पी त्रस हिंसा का त्याग कर सकता है। इस कारण उसका अहिंसाव्रत कुछ हिंसाके त्याग और कुछ अत्यारा रूप होनेसे 'अणुव्रत' है।

जिस तरह साधारण गृहस्थ अहिंसा अणुव्रत पालन करता चोर, गुंडे, बदमाशोंका वीरतासे सामना करता हुआ उनकी अच्छी तरह खबर ले सकता है, चाहे विपक्षीको सांघातिक (भयानक) चोट ही क्यों

न पहुंचे—उसी तरह अहिंसा अणुव्रती राजा अपने राज्यकी रक्षाके लिये भयानक युद्ध भी कर सकता है।

यानी अहिंसा अणुव्रती को अपने घर, परिवार, धर्म, धर्मआयतन (मन्दिर, शास्त्र, गुरु साधु आदि) पर आई हुई विपत्ति, होने वाले आक्रमण (हमला) के समय चुपचाप रहने, चूडियां पहनकर घरमें छिपने, या कायर बनकर अहिंसाका नाम लजानेका मार्ग नहीं बताया गया है उसको उस समय अपनी वीरता, क्षात्रधर्म की परीक्षा देनी चाहिये, धर्म धन परिवार की रक्षा के लिये शत्रुके दांत खट्टे कर देने चाहिये। अपनी, अपने परिवार तथा अपने धर्मस्थानों की या दीन दुखीकी किसी आततायीसे जो रक्षा नहीं कर सकता वह मनुष्य अहिंसा व्रतका क्या पालन कर सकता है?

अतः अहिंसा के लिये मनुष्यको शूरवीर बनना या होना परम आवश्यक है।

स्थावर जीवोंकी हिंसाका त्याग तो गृहस्थसे हो ही नहीं सकता हां! सावधानी तथा यत्नाचारसे वह उसमें यथासंभव, यथाशक्ति कमी कर सकता है।

सत्य अणुव्रत

जिस झूठ बोलनेसे राज्यकी ओरसे दण्ड मिल सके तथा न्यायकर्ता जन (पंच) जिस झूठको निन्दा कर सकें—बेईमान तथा अपराधी ठहरा सकें उस श्रेणीके अनैतिक झूठका त्याग 'सत्य अणुव्रत' है।

गृहस्थाश्रममें रहकर असत्य बोलनेका सर्वथा त्याग नहीं हो सकता क्योंकि व्यापारमें, घरमें, व्यवहारमें, लेन देनमें साधारण झूठ तो लाचारीसे बोलना ही पडता है। ऐसे साधारण झूठके सिवाय ऐसा असत्य वचन न बोलना चाहिये जिससे राजन्यायालय अनीति (बेईमानी) सिद्ध करके दण्ड दे सके अथवा पंचलोग विश्वासघाती, अन्यायी ठहराकर अपमानित कर सकें।

तथा ऐसा सत्य वचन भी न बोलना चाहिये जिससे दूसरे जीवको दुख पहुँचे जैसे नेत्रहीनको अंधा कहकर बोलना, अथवा किसी जीव के

प्राणघात होता हो जाने की संभावना हो जाय अथवा धर्म पर विपत्ति आजाये।

सत्य बोलने से व्यापार नहीं चलता है ऐसा समझना भूल है क्योंकि व्यापारिक क्षेत्रमें सत्य बोलनेसे जितनी अच्छी सफलता मिलती है उतनी झूठ बोलनेसे नहीं मिला करती। सत्य बोलनेसे पहले कुछ कठिनाई भले ही आवे किन्तु जनताको विश्वास हो जाने पर व्यापार बहुत सरलता और सफलता से चलता है।

अचौर्य-अणुव्रत

जिन चीजोंका कोई एक व्यक्ति स्वामी नहीं है, सर्व साधारण जनता जिन वस्तुओंका बिना किसीके पूछे ताछे उपयोग करती है ऐसे पदार्थोंके सिवाय शेष सभी दूसरे व्यक्तिके पदार्थोंको बिना पूछे न लेना, न उठाना, न उठाकर दूसरेको देना सो 'अचौर्य अणुव्रत' है।

कूप (कुआ), नदी, समुद्र आदिका जल, मिट्टी आदि अनेक वस्तुऐं ऐसी हैं जो सब जनताके लिये छूटी हुई हैं पानी, मिट्टी लेते समय न कोई रोकता है, न कोई किसीको चोर ठहराता है, इसलिये अचौर्य अणुव्रत वाला ऐसी चीजें तो बिना किसीसे पूछे ले लेता है, किन्तु उनके सिवाय अन्य कोई पदार्थ विना पूछे ग्रहण नहीं करता। क्योंकि दूसरे की वस्तु विना पूछे लेनेसे (चोरी करनेसे) अपने परिणाम मैले होते हैं तथा जिसकी वह वस्तु होती है उसको भी दुख पहुंचता है।

ब्रह्मचर्य-अणुव्रत

धर्म परिपाटी तथा वंश परम्परा चलानेके लिये सुयोग्य संतानका उत्पन्न करना गृहस्थका मुख्य कर्तव्य है। इसके लिये कुलीन कन्याके साथ विवाह करनेकी प्रणाली प्रचलित है। उस विवाहित अपनी पत्नी के सिवाय अन्य समस्त स्त्रियोंके साथ मैथुन सेवन का त्याग करना 'ब्रह्मचर्य अणुव्रत' है।

अपनी धर्मपत्नीके सिवाय शेष समस्त स्त्रियोंको अपनी माता, बहिन, पुत्रीके समान पवित्र दृष्टिसे देखना चाहिये। इसी तरह स्त्रीको

अपने पतिके सिवाय शेष सब पुरुषोंको पिता, भ्राता, पुत्रके समान समझना चाहिये।

विवाह संस्कार ब्रह्मचर्य अणुव्रतका तथा संतान उत्पत्ति का श्रेष्ठ साधन है वर कन्याके चुनावमें कुल, स्वास्थ्य, स्वभाव और शिक्षाको मुख्यता देनी चाहिये जिस वर या कन्यामें ये चारों बातें ठीक हों उन्हें अपने पुत्र पुत्रीके साथ पाणिग्रहण सम्बन्धके लिये निश्चित कर लेना चाहिये। उक्त चारों बातोंके बाद सौन्दर्य, उनके माता पिताकी योग्यता, उनकी आर्थिक स्थिति आदि बातोंको देखना चाहिये।

वरकी आयु कमसे कम १८ वर्षकी होनी चाहिये और कन्याकी आयु १४ वर्षकी। इससे कम आयुमें वर-कन्याका विवाह करना उनके स्वास्थ्य शिक्षा आदिको नष्ट करना है। वरकी अधिकसे अधिक आयु ३५ वर्षकी और कन्याकी १८ वर्षकी होनी चाहिये। आर्थिक लोभ आदि कारणोंसे जो अधिक आयुके वरके साथ अपनी पुत्रीका संबंध करते हैं वे अपनी कन्याका जीवन दुखी बनाते हैं। तथा जो व्यक्ति दहेजके लोभसे अयोग्य कन्याके साथ अपने पुत्रका सम्बन्ध करते हैं और दहेज कम मिलने की आशामें सुयोग्य कन्याकी अवहेलना करते हैं वे अपने घरको बिगाड़ते हैं, अपने पुत्रका जीवन दुखी बनाते हैं और समाजको क्षति पहुंचाते हैं।

विवाहसे पहले लडकोंको पूर्ण ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए खूब व्यायाम (डंड, बैठक, मुदुगर, डंबल, फुटबाल आदि कसरत) करके अपनी शारीरिक शक्ति बढानी चाहिये जिससे उनका जीवन नीरोग सुखी बना रहे। लडकियोंको अक्षरविद्याके साथ रसोई, सीना पिरोना, वस्त्रधोना, रंगना आदि कलाकौशल प्राप्त करना चाहिये। जो लडकियां केवल पढी लिखी होती हैं, शारीरिक वेश भूषा बनानेमें चतुर होती हैं, घरके काम काज करना नहीं जानती वे लडकियां घरको सुखी स्वस्थ नहीं बना सकतीं। लडकियोंका अविवाहित रहना प्रायः सुफलदायक नहीं होता।

विवाह हो जाने पर स्त्री पुरुषको काम शास्त्रका साधारण ज्ञान

अवश्य प्राप्त करना चाहिये (इस विषयकी अनेक अच्छी पुस्तकें छप चुकी हैं) इसके बिना गृहस्थ जीवनमें अनेक भूलें होती हैं, स्वास्थ्य नष्ट होता है और सुयोग्य संतान उत्पन्न नहीं होती।

विवाहित अवस्थामें भी पतिपत्नीका अधिक से अधिक ब्रह्मचर्यका पालन स्वास्थ्यका रक्षक तथा सुखी जीवनका मूलमंत्र है। गृहस्थाश्रम बलवान शरीरसे सुखी बनता है, धन सम्पत्तिसे नहीं। धन तो गृहस्थ जीवनके सुखका एक गौण कारण है। पत्नीके सन्तोष तथा सुखका मूल कारण उसके पतिका प्रसन्न, स्वस्थ, बलवान शरीर तथा प्रेममय मधुर व्यवहार है, इस दशामें चाहे धनकी कमी क्यों न हो। पत्नीका मृदु प्रसन्न स्वभाव, प्रेममय व्यवहार, स्वच्छ सुन्दर शरीर, गृहव्यवस्थाका चातुर्य, अनुकूल (पतिके अनुसार) वर्तना पतिके सुखका आधार है, इसमें रुपये पैसे का प्रश्न पीछे है।

धनिक किन्तु निर्बल, रोगी, वृद्ध, व्यभिचारी, चिडचिड़े स्वभाव वाला पति अपनी स्त्रीको लेशमात्र भी सुखदायक नहीं होता। इसी प्रकार कटुभाषिणी, रोगिणी, दुर्गुणी, कुरूपा स्त्री—वह चाहे किसी धनकुबेरकी पुत्री ही क्यों न हो अपने पतिको सुखी तथा सन्तुष्ट नहीं कर सकती।

असन्तुष्ट पति या पत्नी चिन्ता तथा आर्तध्यानके शिकार होकर या तो क्षय रोगके शिकार हो जाते हैं अथवा कुमार्गगामी बन जाते हैं।

इस कारण ब्रह्मचर्य अणुव्रतका मूल आधार विवाह संस्कार सब कुछ देखभाल कर करना चाहिये और विवाह हो जाने पर पति-पत्नीको परस्पर बहुत प्रेमके साथ अपनी परिस्थितिमें सन्तोष रखकर हृदयकी बात एक दूसरेसे न छिपाते हुए एक दूसरेका जीवन साथी बनकर ब्रह्मचर्य अणुव्रतका पालन करना चाहिये।

परिग्रह परिमाण अणुव्रत

अपने जीवन निर्वाहके योग्य धन, मकान, वस्त्र, आभूषण आदि

पदार्थोंकी सीमा (हद) नियत करके उससे अधिक संचय करनेका त्याग कर देना परिग्रह परिमाण अणुव्रत है।

मनुष्य जीवनका आदर्श केवल धन सम्पत्तिका एकत्र करना ही नहीं है क्योंकि धन सम्पत्ति आत्माकी निजी वस्तु नहीं है उसे तो सब किसीको यहीं छोड जाना पडता है। इस कारण जीवनको सुखी बनाने के लिये लोभका संकोच करके सन्तोषका अवलम्बन करना चाहिये। धनकी तृष्णा समस्त संसारकी सम्पत्तिसे भी तृप्त नहीं हो सकती इसके लिये तो अपनी इच्छाओं पर नियन्त्रण लगाना पडता है। यह नियन्त्रण ही परिग्रह परिमाण अणुव्रत है।

जनता इस समय दुखी इसी कारण है कि कुछ व्यक्ति तो व्यापार कल कारखाने आदिके द्वारा बहुत वैभवशाली बन गये हैं और करोडों व्यक्तियोंके पास अपने जीवन निर्वाहके योग्य भी सामग्री नहीं। इसी कारण दुखी मूर्ख लोग चोरी, डाके, लूट, मारकाट, धोखाधणी, विप्लव आदि करके अशांति उत्पन्न कर देते हैं।

इस कारण एक तो न्यायपूर्वक व्यापार करना चाहिये, अर्थ उपार्जन में किसीको कष्ट नहीं देना चाहिये, दूसरे अपने अर्थ उपार्जनकी सीमा बांध लेनी चाहिये। तीसरे उपार्जित द्रव्यको अपने भोग उपभोगमें, दीन दुखीजनोंकी सेवामें और जनताके उपकारमें खर्च करना चाहिये। वैयक्तिक स्वार्थको सामाजिक स्वार्थसे अधिक विशेषता न देनी चाहिये। अपने समाज तथा देशके उत्थानमें अपने द्रव्यको लगाना चाहिये।

इस विषय पर विशेष प्रकाश अर्थ पुरुषार्थके प्रकरण में डालेंगे।

गुणव्रत

अणुव्रतोंकी रक्षा करने वाले व्रतों (नियन्त्रणों) को गुणव्रत कहते हैं। गुणव्रत ३ हैं—१—दिग्व्रत, २—देशव्रत, ३—अनर्थदण्डव्रत।

अपनी परिस्थितिका ठीक विचार करके जन्म भरके लिये समस्त (दशो) दिशाओंमें घूमने फिरनेकी सीमा बांध लेना और उसी सीमा में आना जाना, कारोबार करना, जीवन निर्वाह करना, उससे बाहर न जाना 'दिग्व्रत' है।

मनुष्यकी तृष्णाको संकुचित करनेके लिये, सन्तोषको सुरक्षित रखनेके लिये तथा संसारमें फैली हुई पापवृत्तिसे अपना सम्पर्क दूर करनेके लिये यह व्रत बहुत उपयोगी है।

देशव्रत

दिग्व्रतको समय तथा क्षेत्रकी अपेक्षा और भी अधिक संकुचित कर देना देशव्रत है। यानी—दिन, मास, वर्ष, घंटे आदि किसी नियत समय तक नगर, मुहल्ला, गली बाजार आदि तक आने जानेकी मर्यादा करना।

व्रती गृहस्थको अपने दैनिक जीवनमें और भी अधिक नियन्त्रण प्राप्त करनेके लिये तथा आकुलता, तृष्णाकी प्रवाहित धाराको रोकनेके लिये यह देश व्रत एक सुगम साधन है।

अनर्थदण्डव्रत

जिन कार्यों में व्यर्थ पापका दण्ड (कर्मबन्ध) भुगतना पड़े उसे अनर्थदण्ड कहते हैं। जैसे दूसरेके धन, पुत्र, मित्र, स्त्रीका नाश विचारना, अपनी जीत, धनकी बढ़वारी आदि शेखचिल्ली जैसे विचार करते रहना, व्यर्थकी खोटी खरी बातें करते रहना, सुनना, व्यर्थ आग जलाना, पानी फैलाना, पेड़ोंका तोडना, लापर्वाहीसे चींटी, मकोड़े, घास आदिको रोंदकर चलना, किसीको विष, प्राणघातक हथियार आदि देना इत्यादि व्यर्थ अनर्थकारी कार्य करना।

ऐसे व्यर्थ अनर्थ करने वाले कामोंका छोडना अनर्थदण्ड व्रत है।

यह व्रत मनुष्य जीवनके लिये अच्छा उपयोगी और आवश्यक है। क्योंकि निकम्मे मनुष्य ऐसे व्यर्थ कार्य करके स्वयं पापबन्ध करते हैं और अन्य लोगोंको अपना साथी बनाकर समाजकी हानि करते हैं। अनर्थदण्डका त्याग करने वाला व्रत उन मनुष्योंकी निद्रा भंग करके उन्हें जाग्रत करता है कि तुम्हारे ऐसे निकम्मे विचारों और कार्यों से तुम्हारा रत्तीभार भी भला नहीं हो सकता। अतः ऐसे निकम्मे कार्यों को छोडकर कर्मठ तथा कर्तव्यशूर बनो।

शिक्षाव्रत

जिन नियमोंको आचरण करनेसे उच्चत्याग प्राप्त करनेकी शिक्षा मिलती है उनको 'शिक्षाव्रत' कहते हैं।

शिक्षाव्रत ४ हैं—१—सामायिक, २—प्रोषधोपवास, ३—भोगोपभोग परिमाण, ४—अतिथिसंविभाग।

सामयिक

नियत समय तक (अपनी सुविधा तथा शक्तिके अनुसार मुकर्रिर किये गये घंटा, आध घंटा, १०, २०, २५ मिनट तक) समस्त पापोंका त्याग करके सब जीवोंमें समता भाव (न किसीसे राग, न किसीसे द्वेष, शत्रु मित्रमें समान भाव) धारण करके अपने आत्म-स्वरूपका, पंचपरमेष्ठीका चिंतवन करना, बारह भावना आदि उन बातोंके विचारने में चित्तको लगाना जो राग द्वेषको कम करने वाली हों, संसार शरीर, भोगोंसे विरक्ति पैदा करने वाली हों 'सामायिक' है। सामायिक करते समय णमोकार आदि मंत्रकी जाप देना तथा सामायिक पाठ आदि पढ़ना भी सामायिकमें ही सम्मिलत है।

सामायिक करनेकी संक्षिप्त विधि यह है—पहले पूर्व दिशा या उत्तर दिशाकी ओर मुख करके सीधे खड़े होकर ६ बार णमोकार मंत्र पढकर धोक दे, फिर खड़ा होकर और हाथ जोड़कर ३ आवर्त (जुड़े हुए हाथोंको गोल चक्राकार घुमाना) और एक शिरोनति (जुड़े हुए हाथों पर मस्तक झुकाना) करे फिर दांये हाथ की ओर (दक्षिण दिशाकी ओर यदि पूर्व दिशामें प्रारम्भ किया हो) घूमकर नौ बार णमोकार मन्त्र पढकर तीन आवर्त और एक शिरोनति करे, फिर दांये हाथकी ओर (पश्चिम दिशाकी ओर) घूमकर नौ बार णमोकार मन्त्र पढकर तीन आवर्त एक शिरोनति करे फिर, दांये हाथकी ओर (उत्तर दिशाकी ओर) घूमकर नौ बार णमोकार मंत्र पढकर, ३ आवर्त, १ शिरोनति करके जिस दिशामें धोक लगाई थी उसी दिशा की ओर मुख करके खडा होकर या बैठकर सामायिक करे। तब

सामायिक कर लेवे तब अन्तमें खडा होकर ६ वार णमोकार मंत्र पढकर उसी दिशामें धोक देनी चाहिये।

सामायिक करते समय आंखोंकी दृष्टि नाककी ओर रखनी चाहिये और जब तक सामायिक समाप्त न हो तब तक न कुछ बोलना चाहिये, न कोई अन्य कार्य करना चाहिये। परिणामोंको शुद्ध बनानेके लिये तथा कर्मोंसे छुटकारा पानेके लिये सामायिक सबसे उत्तम उपाय है। प्रत्येक गृहस्थको प्रातः, सायं (सुबह शाम) कुछ न कुछ देर तक सामायिक अवश्य करनी चाहिये।

प्रोषधोपवास

दिन रात (८ पहर) में केवल एक वार भोजन करना 'प्रोषध' है, दिन रातमें कुछ भी न खाना पीना उपवास है। प्रोषधके साथ उपवास करना प्रोषधोपवास कहलाता है।

प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशीको यह व्रत किया जाता है। अष्टमी और चतुर्दशीको उपवास और एक दिन पहले तथा एक दिन पीछे यानी सप्तमी नवमी तथा त्रयोदशी-पूर्णमासीको प्रोषध (एकाशन) करना चाहिये। जो इतना न कर सके वह केवल उपवास करे और जो उपवास भी न कर सके वह केवल अष्टमी, चतुर्दशीको प्रोषध (एकाशन) ही कर सकता है।

केवल भोजन त्याग करनेका नाम उपवास नही है समस्त विषय-भोग, घर तथा व्यापारके काम, क्रोध आदि कषाय और सब तरहका खानपान छोडना उपवास है।

भोगोपभोग परिमाण

जो वस्तु (भोजन, इत्र, तेल, फूलमाला आदि) एक ही वार भोगनेमें आवे उसे भोग कहते हैं, जो वस्तु अनेक वार भोगने में आवे (जैसे वस्त्र, आभूषण, मकान, सवारी आदि) उसे उपभोग कहते हैं। भोग्य, उपभोग्य वस्तुओंका परिमाण (सीमा-हद) कर लेना कि मैं आज या इतने दिन या समय तक इतनी वस्तुओंको

अपने खाने पीने में या उपयोगमें लाऊँगा इसका नाम 'भोगोपभोग पदिमाण' व्रत है।

विषय भोगमेंसे अपनी इच्छाओंको रोकनेके लिये यह व्रत एक सरल साधन है, प्रत्येक व्यक्ति इस व्रतके अभ्याससे संयमका अभ्यासी बन सकता है।

अतिथि संविभाग

अपने घर पर आनेके लिये जिनकी कोई तिथि (मिती-दिन) नियत नहीं है (न तिथि-अतिथि) यानी संयोगसे जो चाहें जिस दिन आ सकते हैं या आ जाते हैं) उन मुनि, ऐलक क्षुल्लक आदि संयमियोंको 'अतिथि' कहते है। ऐसे अतिथियोंके लिये जो दान करना, सो 'अतिथि संविभाग' व्रत है।

अतिथि तीन प्रकारके हैं—१ उत्तम, २—मध्यम, ३—जघन्य। महाव्रतधारी मुनि उत्तम अतिथि (धर्मपात्र) हैं।

नैष्ठिक गृहस्थ (प्रतिमाधारी श्रावक) मध्यम पात्र (अतिथि) है। पाक्षिक गृहस्थ जघन्य अतिथि है।

दीन दुखी अपाहिज, अनाथ, विधवा आदि दयापात्र हैं।

दान चार प्रकार का होता है—१—आहार दान, २—शास्त्र-ज्ञान-दान, ६—औषधदान, ४—अभयदान।

मुनि आदि धर्मपात्रोंको भक्तिसे तथा दीन दुखियोंको दयासे ऋतु तथा प्रकृतिके अनुसार शुद्ध भोजन कराना आहारदान है।

दूसरोंको पढाना, शास्त्र पुस्तकें देना, विद्यालय खोलना, पढने पढानेका प्रबन्ध कर देना ज्ञानदान है।

रोगग्रस्त व्यक्तिको औषध (दवा) देना, सेवा शुश्रूषा करना औषध दान है।

किसी भयभीत प्राणीका भय मिटाना, संकटग्रस्त जीवकी रक्षा करना, मुनियोंके लिये जंगल पर्वत आदि निर्जन, भयानक स्थानोंमें ठहरनेके लिये गुफा, वसतिका बनवा देना, रातको अंधेरी सडक, गलीमें

प्रकाश कर देना, स्वयंसेवक बनकर पहरा देना आदि कार्य अभय-दान हैं।

सल्लेखना

धार्मिक गृहस्थ जब अपना मृत्यु समय निकट आया हुआ समझता है तब अपने, शान्त, धार्मिक भावोंसे सांसारिक पदार्थ-परिवार, मित्र जन, धन मकान आदि परिग्रह तथा अपने शरीरसे रागभाव और शत्रु जनोंसे द्वेषभाव छोडकर, आहार पान को क्रमसे घटाता हुआ धर्म ध्यान से जो शरीर त्याग करता है, सो 'सल्लेखना' है।

अनुप्रेक्षा (भावना)

सामायिक करते समय परिणामोंकी शुद्धिके लिये तथा रागभाव घटानेके लिये भावनाओंका चिन्तवन बहुत कार्यकारी रहता है। सल्लेखनाके समय भी संसारके पदार्थोंसे, भोगे हुए भोगोंसे तथा अपने परिवार और अपने शरीरके साथ भी मोह बन्धन तोडनेके लिये भावनाओं (अनुप्रेक्षाओं) का सुनना, मनन करना बहुत उपयोगी है।

जिन बातोंके विचारनेसे आत्मा संसार, शरीर, भोगों से विरक्त होता है उनको 'भावना' या 'अनुप्रेक्षा' कहते हैं वे १२ होती हैं १—अनित्य, २—अशरण, ३—संसार, ४—एकत्व, ५—अन्यत्व, ६—अशुचि, ७—आस्रव, ८—संवर, ९—निर्जरा, १०—लोक ११—बोधि दुर्लभ और १२ धर्म।

अनित्य भावना

संसारमें सदा कोई नहीं बना रहता, बचपन, युवावस्था तथा यह जीवन किसी दिन समाप्त होता ही है, वैद्य, मन्त्रवादी, मल्ल, राजा इन्द्र, देव आदि भी किसी न किसी दिन कालके मुखमें चले ही जाते हैं। ऐसा विचार करना अनित्य भावना है।

अशरण

इस संसारमें जीवकी रक्षा करने वाला कोट, किला, सेना, मित्र, माता, पिता, आदि कोई भी नही है, मृत्युसे कोई भी रक्षा नही कर सकता ऐसा विचारना 'अशरण भावना' है।

संसार

संसारमें किसीको तनका, किसीको धनका, किसीको मनका, किसी को इष्ट वियोगका, किसीको अनिष्ट संयोगका, किसीको परिवारका दुःख है, कोई भी जीव सुखी नही है। ऐसा विचारना 'संसार भावना' है।

एकत्व

यह जीव अकेला ही उत्पन्न होता है, अकेला ही मरता है, सुख या दुःख भी अकेला ही भोगता है कोई भी मित्र, सगा उसमें साथी नही बन सकता। ऐसा विचार करना 'एकत्व' भावना है।

अन्यत्व

'संसारका कोई भी पदार्थ आत्माका अपना नही, साथमें रहने वाला शरीर भी आयु समाप्त हो जाने पर आत्मासे अलग होकर यहां पड़ा रह जाता है, न कोई साथ आता है, न जाता है।' ऐसा विचारना 'अन्यत्व' है।

अशुचि

रक्त, पीप, चर्बी, हड्डी, टट्टी, मूत्र, कफ, आदि पदार्थोंको घृणित अपवित्र माना जाता है वे सब अपवित्र पदार्थ इस शरीरमें भरे हुए हैं, इस अपवित्र शरीरको सुन्दर एवं ग्राह्य कैसे माना जावे, ऐसा विचार 'अशुचि' भावना है।

आस्रव

मन, वचन, कायकी क्रियासे कर्मों का आस्रव (आगमन) होता है, आस्रव के कारण संसार भ्रमण होता है, अतः अशुभ क्रिया तो सर्वथा छोड़ देनी चाहिये तथा कालान्तरमें गुप्ति द्वारा शुभक्रिया भी त्याज्य है। ऐसा विचार 'आस्रव' भावना है।

संवर

तप, गुप्ति, समिति आदिसे कर्मोंका आगमन रुक जाता है जिससे आत्माका आगामी बन्धन तयार नहीं होने पाता, अतः संवर आत्माके लिये सुखदायक है। ऐसा विचारना 'संवर' भावना है।

निर्जरा

तप करनेसे अपना फल न देकर भी जो कर्म आत्मासे अलग हो जाते हैं, सो निर्जरा जीवको बन्धनमुक्त करनेमें सहायक है। ऐसा विचार करना 'निर्जरा' भावना है।

लोक

जीव अजीव द्रव्योंका पुञ्ज रूप यह लोक न कभी किसी ने बनाया है और न कभी कोई इसको मिटा सकता है, यह अनादि अनिधन है। इत्यादि लोक सम्बन्धी विचार करना 'लोक' भावना है।

बोधि दुर्लभ

धन, पुत्र, मित्र, स्त्री, राज्य आदि सांसारिक चीजें मिल जाना तो संसारमें सरल है किन्तु आत्माका अनुभव, आत्माके यथार्थ ज्ञानका प्राप्त होना कठिन है। उसके बिना सुख-शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। ऐसा विचार करना 'बोधिदुर्लभ' भावना है।

धर्म

काम, क्रोध, लोभ, राग, द्वेष आदि दुर्भाव उत्पन्न करने वाले कार्य अधर्म हैं और इन राग आदि भावोंको हटाने वाले कार्य 'धर्म' है, उस धर्मसे ही आत्मा अक्षय सुख प्राप्त कर सकता है। ऐसा विचारना 'धर्म' भावना है।

सामायिक प्रतिमा

गृहस्थकी तीसरी श्रेणीका नाम 'सामायिक' है। व्रती श्रावक दूसरी श्रेणीमें सामायिक शिक्षाव्रतके रूपमें करता है। तीसरी प्रतिमा (श्रेणी) में सामायिकको व्रतके रूपमें निर्दोष (अतिचार रहित) प्रातः मध्याह्न और सायं (सुबह, दोपहर, शाम) तीन समय करता है।

प्रोषध प्रतिमा

जिस प्रोषधोपवासको दूसरी प्रतिमामें शिक्षाव्रतके रूपमें किया जाता है चौथी प्रतिमामें वह प्रोषधोपवास व्रतके रूपमें निरतिचार (निर्दोष) आचरण किया जाता है।

सचित्त त्याग

जो गृहस्थ पांचवी श्रेणीका चारित्र स्वीकार करता है उसको सचित्त (सजीव) पदार्थ खान पानका त्याग करना होता है, कच्चे (अग्नि पर न उबाले हुए) जल तथा हरी (सचित्त) शाक फलों, पत्तों (पालक आदि) का खान पान चौथी श्रेणी तकके गृहस्थ किया करते हैं किन्तु पांचवीं श्रेणीमें आने पर स्थावरकायकी रक्षाकी दृष्टिसे तथा रसना (जीभ) इन्द्रियकी स्वाद लोलुपता दूर करने के लिये सचित्त पदार्थोंका खान पान त्याग दिया जाता है।

पांचवीं प्रतिमा वाला श्रावक उबाला हुआ अचित्त (ठंडा या गरम) पानी पीता है क्योंकि वह प्रासुक (निर्जीव-एकेन्द्रिय जलकाय रहित) हो जाता है। इसी तरह वनस्पति (शाक सब्जी पत्ते आदि) भी अचित्त (निर्जीव) रूपमें—सूखी, उबाली, पकी, टुकड़े टुकड़ेकी गई, नमक खटाईसे मिलाई गई, तथा कोल्हू आदिसे पीडकर निकाले हुए रसके रूपमें—की गई वनस्पति खाता है। यानी इस श्रेणीका व्यक्ति अचित्त भोज्य पदार्थको ही ग्रहण करेगा।

रात्रि भोजन त्याग

व्रती गृहस्थ जब और भी ऊंचा चारित्र आचरण करना चाहता है तब छठी श्रेणीमें पहुंचकर रात्रिमें सब प्रकारके भोजन पान को कृत, कारित, अनुमोदना से त्याग देता है।

यद्यपि रातको भोजन तो पहली श्रेणीमें ही त्याग दिया जाता है किन्तु वह केवल अपने लिये त्याग होता है। उसका बच्चा रातको भूख से रोवे तो उसको खिला देता है या दूसरेको खिलानेके लिये कह देता है किन्तु छठी श्रेणीमें पहुंच जाने पर वह व्रती दूसरे को भी रात को भोजन न करावेगा, न किसी को खिलाने के लिये कहेगा, न रात में भोजन करने वाले को उत्साहित करेगा।

इस प्रतिमा का दूसरा नाम 'दिवामैथुन त्याग है यानी दिनमें अपनी पत्नी के साथ काम क्रीडा करने का त्याग भी होता है।

ब्रह्मचर्य

गृहस्थ जब पूर्वोक्त छह प्रतिमाओं के पूर्ण नियमों का आचरण करता हुआ अपनी पत्नी से भी काम सेवन का त्याग करके अखंड ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार करता है तब उसके सातवी श्रेणी 'ब्रह्मचर्य प्रतिमा' होती है।

आरम्भ-त्याग

पिछली सातों प्रतिमाओं का आचरण करता हुआ श्रावक जब अपने हाथ से रसोई बनाने, खेती व्यापार करने आदि आरम्भ [चक्की, चूल्हा, बुहारी, ओखली पानी सम्बन्धी घरू कार्य] का त्याग कर देता है तब उसके आठवीं प्रतिमाका आचरण कहा जाता है।

परिग्रह-त्याग

धन, मकान वस्त्र आभूषण जमीन आदि पदार्थों को अपना समझना 'परिग्रह' है। इन सासारिक पदार्थों में मोह भाव होने से गृहस्थ इन पदार्थों का संग्रह करता है, उसकी रक्षा करता है और उनके छूट जाने पर दुखी होता है। श्रावक जब आठवी श्रेणी से भी और ऊपर जाना चाहता है तब अपने शरीरके २-४ वस्त्र के सिवाय शेष सब धन, मकान आदि चल अचल सम्पत्ती अपने पुत्र पुत्री आदिको दे देता है, दान कर देता है उन परिग्रह भूत पदार्थों में ममता [अपनापन] छोडकर उनका त्याग कर देता है। इस प्रकार का आचरण नवमी 'परिग्रह त्याग' प्रतिमा है।

इस श्रेणीका श्रावक या तो किसी धर्मशाला में रहता है अथवा अपने घरपर एकांत में रहकर धर्म साधन करता है। भोजनके लिये उसको जो कोई बुला ले जावे उसके यहां भोजन कर लेता है। पुत्र पौत्र किसी व्यापार कारोबार आदि की सम्मती मांगे तो उनको उचित सम्मती दे देता है।

अनुमति त्याग

नवमी श्रेणी तक का आचरण करने वाला श्रावक जब अपने पारि-

में और उन्नति करता है तब वह गृहस्थाश्रम के किसी कार्य की सम्मती देनेका त्याग कर देता है। यानी अपने पुत्र आदि को व्यापार, विवाह आदि की सम्मती देने का मोह तन्तु भी तोडकर अधिक उदासीन बन जाता हैं इस प्रकार का आचरण 'अनुमति त्याग' प्रतिमा है।

इस श्रेणीके श्रावक के लिये जो कोई भी गृहस्थ भोजन बनावे उसके घर भोजन कर आता है।

उद्दिष्ट-त्याग-प्रतिमा

पिछली समस्त [दशों] श्रेणियोंका चारित्र पालन करनेवाला श्रावक जब अपने उद्देश से [अपने लिये] बनाये गये भोजन ग्रहण करने का त्याग कर देता है। महाव्रती मुनि के समान अनुद्दिष्ट भोजन करता है तब वह सबसे उच्च श्रेणीका श्रावक 'अनुद्दिष्ट' प्रतिमाधारी होता है।

घर छोडकर मुनि के पास जाकर इस प्रतिमा का चारित्र धारण किया जाता है। इस श्रेणी के श्रावक के दो भेद होते हैं—एलक और क्षुल्लक।

क्षुल्लक अपने पास एक लंगोटी और एक छोटी [अपने शरीर को पूरी तरह ढांक न सके ऐसी छोटी–यानी–खण्ड वस्त्र] चादर अपने पास रखता है, अपने शिर डाढी मूछ के बाल कैंची छुरा से कटवा लेता है; बैठकर भोजन करता है।

एलक केवल एक लंगोटी पहनता है, अपने शिर डाढी मूंछ के बालों को अपने हाथों से उखाड डालता [केशलोंच] है खडे होकर अपने हाथों में भोजन करता है।

जैनधर्मकी कुछ आदर्श विशेषताएं

जैन धर्म अनेक अनुपम महत्वपूर्ण विशेषताओंका पुञ्ज है उनमेंसे कुछ एक उल्लेखनीय विशेषताओंका यहां उल्लेख करते हैं।

१—साम्यवाद—जैनधर्म जगतके समस्त प्राणियोंको वे चाहे जितने छोटे या बड़े हों, किसी भी शरीरमें हों स्वाभाविक शक्तियोंकी अपेक्षा समान बतलाता है। भिन्न-भिन्न शरीरधारी जीवोंमें उन आध्यात्मिक

शक्तियों पर पड़े हुए आवरणसे विभिन्नता है, शक्तियोंमें भिन्नता नहीं है।

२—समाजवाद—जैनधर्मका सिद्धान्त है कि जातिका प्रत्येक व्यक्ति प्राणी वह चाहे नर हो, पशु हो या देव, नारकी हो विश्व समाजका एक अंग है। यानी—जगतका प्राणी समुदाय एक समाजके रूपमें है अतः प्राणीमात्र को अपना मित्र समझो। 'सत्त्वेषु मैत्री'

३—स्वतन्त्रता—जैनधर्मकी घोषणा है कि किसी भी जीवका भला या बुरा कोई अन्य व्यक्ति (परमात्मा आदि) नहीं किया करता किन्तु यह स्वयं अपने अच्छे बुरे कार्यों से अच्छे बुरे बीज बोकर अपनी सुख दुख देने वाली खेती तयार करता है। कर्मजंजाल से पूर्ण स्वतन्त्र होना भी जीवके निज-अधीन है, अन्य किसीकी सहायतासे इसे मुक्ति नहीं मिला करती।

४—अहिंसावाद—अहिंसा क्या है और वह किस प्रकार आचरणमें लाई जा सकती है? अहिंसाका पात्र कौन कौन है? अहिंसाका प्रादुर्भाव कहांसे होता है? उसका प्रयोग किस पर होता है? इत्यादि अहिंसा विषयक समस्त बातोंका स्पष्ट विवरण जैनधर्म ही देता है। 'वृक्ष, सूक्ष्म कीटाणु, कीड़े मकोड़े, प्रत्येक पशु पक्षी, सर्प बिच्छू, सिंह आदि सभी दया तथा अहिंसाके पात्र हैं।' अहिंसाका इतना विशाल विवेचन जैनधर्मके सिवाय अन्य कहीं नहीं है।

५—परमात्म पद—जैनधर्म युक्ति पूर्वक यह सिद्धान्त सिद्ध करता है कि साधारण आत्मा ही आत्मशुद्धिके मार्ग पर चल महात्मा बनता है और महात्मासे पूर्ण शुद्ध, निरंजन, निर्विकार, पूर्णज्ञानी, पूर्णसुखी परमात्मा बन जाता है। परमात्मा कोई एक ही नियत व्यक्ति नहीं है, बल्कि आत्मशक्तियोंके परम (पूर्ण) विकासका नाम ही 'परमात्मा' है। आत्माके पूर्ण विकासरूप परीक्षाको जो भी जीव उत्तीर्ण (पास) कर लेता है वह परमात्मा हो जाता है। परमात्मा एक ही नहीं है, अनेक हैं।

६—जगत की जटिलता—'चर-अचर' जड चेतन पदार्थोंका

समुदाय रूप यह जगत अनादि समयसे चला आ रहा है इसको किसीने किसी विशेष समय नहीं बनाया।' इस विषयको जैनदर्शनने अकाट्य युक्तियों से सिद्ध किया है।

७—स्याद्वाद—भिन्न भिन्न दृष्टिकोण (अपेक्षा) से प्रत्येक घटना सत्य सिद्ध होती है, वस्तु विवेचनके समय अन्य दृष्टिकोणोंका खयाल रखना तथा उनका अपलाप न करना ही स्याद्वाद है। स्याद्वाद सिद्धान्त के द्वारा संसारके विवादका बीज बोने वाला एकान्तवाद (एक हठका आग्रह) दूर हो जाता है और यथार्थ निर्णय करनेमें पूर्ण सुविधा मिलती है। यह स्याद्वाद सिद्धान्त जैनधर्मकी अनुपम देन है।

८—कर्म सिद्धान्त—संसार चक्रमे सुख दुख देते हुए जीवको चक्कर दिलाने वाला कर्मचक्र क्या वस्तु है? वह जीवके साथ कैसे लगता है? कैसे छूटता है? क्या करता है? आदि विशद विवेचन करके जैनधर्म ने जीवोंको कर्मठ बनानेका सन्देश दिया है।

९—उदयकाल—जैनधर्म की सत्ता संसारमें स्वतन्त्र और सबसे प्राचीन है। प्राचीन से प्राचीन इतिहासके साधन जैनधर्मका अस्तित्व पुरातन सिद्ध करते हैं।

१०—पदार्थ विवेचन—जैनधर्मने जड़ चेतन पदार्थोंका उनके गुण और दशाओंका जो उल्लेख किया है वह अपने ढंगकी एक ही चीज है। जीव किन-किन विशेषताओंका पुंज है? वह कितने प्रकारका है? किस किस प्राण, ज्ञान शक्तिका किस किस जीवमें कितना कितना अस्तित्व है? इस बातका जो स्पष्ट विवेचन जैन सिद्धान्तमें मिलता है वह अन्यत्र कहीं नहीं पाया जाता। इसी प्रकार जड पदार्थ कौनसे हैं। कितने तरहके हैं? परमाणुसे स्कन्ध कैसे बनता है? प्रकाश, अन्धकार, शब्द आदि क्या कुछ हैं इन सब बातोंका वैज्ञानिक कथन जैसा जैन दर्शन ने किया है, वैसा किसीने नहीं किया।

११—जीवके उत्थान-पतन, हेय उपादेय, भक्ष्य अभक्ष्य, कर्तव्य अकर्तव्यका जो श्रेणीबद्ध विशद विस्तृत विवेचन जैनधर्मने किया है वह अन्य किसी भी दर्शनने नहीं किया। जीवका १४ गुणस्थानों द्वारा आत्मविकास का क्रमबद्ध सूक्ष्म विवेचन इस बातकी साक्षी है।

१२—मूर्तिपूजा क्या वस्तु है ? क्यों वह करनी चाहिये ? क्या उससे लाभ है ? पूज्य मूर्ति कैसी होनी चाहिये उसकी भक्ति उपासना कैसे करनी चाहिये उससे क्या आध्यात्मिक लाभ है इसका स्पष्ट और आदर्श विवेचन जैन सिद्धान्त करता है।

भूपति वीरदमन और मुनि वीरभद्र का संवाद

[मनोनीत राजा वीरदमन तथा मुनि वीरभद्रके संवाद द्वारा धर्मका सार अंश]

महाराज ! जैनधर्मका उपदेश है कि यह संसार असार है, इसमें कुछ सार नहीं है, संसार, शरीर, भोग, पुत्र, मित्र, स्त्री, राज्य आदि सब कुछ छोड़ देना चाहिये, तब ही आत्मकल्याण होगा। मैं भी यह सब कुछ समझता हूं, मेरे नयनाभिराम, सुन्दर, गुणी पुत्रको मेरे देखते देखते यमराज उठा ले गया मैं अपने पुत्रको उसके हाथोंसे न बचा सका ! जनता मुझे बहुत सूरवीर समझती है, मेरी वीर सेना अजेय समझी जाती है, मेरे वीर सामन्त जगप्रसिद्ध योद्धा हैं, किन्तु यह सब शक्ति परिकर उस अवसर पर कुछ काम न आया। मेरा पुत्र अपनी मनोहारिणी आकृति हृदय पर अंकित करके यमराजके साथ चला गया, मैं देखता रह गया। मैं उसको फिर लौटा लानेके लिये अनेक उपाय कर चुका किन्तु सब व्यर्थ हुए। मैं दीन होकर बहुतेरा रोया-चिल्लाया किन्तु यमराजको दया न आई, मेरे वीर सामन्तोंने जो कुछ समझाया उनका एक शब्द भी मेरे हृदय पर न ठहर सका, जनता ने समझ लिया कि राजा पुत्रस्नेहवश अपना विवेक और राजतेज खो बैठा है।

मेरे पड़ौसी राजाओं ने मेरी दीन दशा सुनकर मेरे राज्य पर चढ़ाई करदी और चारों ओरसे मेरी राज्य सीमाको संकुचित करने लगे, उन्होंने मेरे बनवाये हुए विशाल, सुन्दर देवमन्दिरोंका मेरे जीवित रहते हुए अपमान किया है।

मैं इस समय किंकर्तव्य विमूढ हूँ, जब मेरा उत्तराधिकारी ही मेरे सामने नहीं तब मैं अपना राज्य किसके लिये विस्तृत करूं ? किसके

लिये अपने पराक्रमका परिचय दूं ? क्यों न सब कुछ छोड छाडकर आपका शिष्य बन जाऊं ? सांसारिक कार्य जो करने थे उन्हें करके बहुत कुछ देख चुका, अब परमार्थ भी करके देखलूं।

किन्तु मेरे प्रजाजन मेरी इच्छाका संकेत पाकर आपसमें काना फूंसी कर रहे हैं कि वीरक्षत्रिय वंशमें जन्म लेकर राजा वीरदमन पुत्रमरणसे वीरता-शून्य कायर हो गया है और अपने राज्य, प्रजाजन तथा धर्मालयों की, एवं धार्मिकजनों की रक्षा करने योग्य पराक्रम भी उसमें नहीं रहा इसलिये अब अपनी कायरता को छिपानेके लिये उस पर साधुवेशका आवरण डालना चाहता है। यह कर्म सेनासे क्या युद्ध करेगा ? जो अपने राज्य और धर्म स्थानों की रक्षा अपने बाहिरी शत्रुओं से न कर सका वह अपने अन्तरंग शत्रुओं का दमन क्या कर सकता है ?

वाण की नोंकसे भी अधिक तीक्ष्ण किन्तु मनमें स्थान पाने वाली ये बातें भी मेरे कानों में आईं मेरा आत्मा तिलमिला उठा, मेरा राज-तेज जागृत हुआ, मेरे मनने मुझे फटकार बताई, मेरा हृदय मेरे विचारों से घृणा करने लगा। मैं फिर अन्धकारमें फंस गया।

अब आप कृपा स्वीकार कर अपने विवेक दीपक से मेरा हितकर मार्ग दिखलाइये जिससे मेरे हृदयमें कायरताका कलंक न रहने पावे और मैं निश्चिन्त होकर परमार्थ पथपर पद रख सकूं।

कर्तव्य-पथ-संकेत

मुनि वीरभद्र प्रसन्न मुद्रामें गम्भीर वाणीसे बोले—हे राजन्! तू वीर है, भव्य है कर्मठ है राज्यशत्रुओं को रणभूमि में पछाडकर अपना राज्य ले सकता है और धर्मरण में कर्मसेना का संहार कर अपना आत्म-साम्राज्य सहज में प्राप्त कर सकता है और ऐसा अवश्य करेगा विवेक की ज्योति जगाकर धैर्य का अवलंबन कर साहस की बागडोर हाथ में लेकर अपनी सुप्त वीरता को कर्तव्य पथपर दौडा दे विजयश्री तेरे चरण स्पर्श करके तुझे अपना पति बनावेगी। घबडाता क्यों है ? कान लगा-कर सुन!

यह संसार असार तो अवश्य है क्योंकि यदि ऐसा न होता तो भगवान ऋषभदेव, भगवान शान्तिनाथ आदि पुराण पुरुष अपना विशालराज्य, तथा साम्राज्य त्यागकर दिगम्बर साधु क्यों बनते, किन्तु इस असार संसार से भी बुद्धिमान व्यक्ति बहुत कुछ 'सार' ग्रहण कर सकता है।

संसार में सार

संसार में मानव शरीर एक बहुत सारभूत पदार्थ है, यह वह कल्प-वृक्ष है कि इससे जो कुछ मांगों वही चीज मिल जाती है नरकका साम्राज्य तथा स्वर्ग की दिव्यविभूति इस शरीर से मिल सकती है, सूक्ष्म कीटाणु और बलवानसिंह भी नरदेह से मिला करता है, चक्रवर्ती सम्राट् तथा विश्ववन्द्य तीर्थंकर पद भी मनुष्यको ही मिलते हैं। ऐसे परम सारभूत शरीर को असार कैसे कहा जा सकता है? हां! जो मूर्ख इस नरभव से समुचित लाभ नहीं उठाते उनके लिये तो यह अमूल्य नरदेह भी निःसार है।

हां! मनुष्यभव पाकर भी यदि धार्मिक संस्कार न मिल सकें, भील, चांडाल, लकडहारा के समान जीवन व्यतीत हो या दिन रात मांस मदिरा अंडों का खान पान, वेश्यागमन, जुआ आदि दुर्व्यसनों में ही समय बीते तो इस नरदेह का पाना भी निःसार है। अतः समय से लाभ उठाने के लिये हृदय में धर्मका अंकुर अवश्य उगाना चाहिये।

धर्म का अंकुर

"मैं अजर अमर, निरंजन, निर्विकार अमूर्तिक; ज्ञान सुख शक्तिशांतिका भण्डार हूँ, अपने आपको बनाना 'उन्नत करना' विगाडना 'गिराना' मेरे अपने हाथ में है संसार मुझ में नहीं है, मैं संसार में हूं, शरीर में नहीं हूँ, मैं शरीर में हूं, कोई भी शक्ति मुझे छिन्न भिन्न पराजित नहीं कर सकती। शोक भय घृणा राग, द्वेष, काम क्रोध लोभसे मैं अलिप्त हूं, इंद्रियां

शरीर मेरे दास हैं मैं इनका दास नहीं हूं सुख ज्ञान मेरे आत्मा के गुण हैं इनका पूर्ण विकास मैं ही करूंगा, अन्य पदार्थों से ज्ञान सुख प्राप्त नहीं होते, संसारकी कोई भी शक्ति मुझे विचलित नहीं कर सकती, मैं सबसे भिन्न एकाकी 'अकेला' हूँ, अकेला इस शरीर में आया हूँ, अकेला ही अन्य शरीर में जाऊंगा, मेरे शरीर बदलेंगे, मैं नहीं बदलूंगा। संसार में मेरा कोई भी शत्रु नहीं है, अर्हन्त, सिद्ध परमेष्ठी का जो रूप है वही रूप मेरा है।"

इस प्रकार अपने आत्मा को समझने तथा श्रद्धा करने से अपने हृदय में धर्म वासना अंकुरित होती है। जो व्यक्ति आत्मस्वरूप को नहीं पहिचानता वह अपना उत्थान कैसे कर सकता है, गीदडों के झुंड में रहकर अपने आपको गीदड समझनेवाला सिंहका बच्चा अपना पराक्रम प्रगट नहीं कर सकता। इस कारण सबसे प्रथम अपने आत्मा के वैभव, आत्मा के तेज को समझ लेना आवश्यक है।

तदनन्तर उस शुद्ध, बुद्ध, निर्भय, प्रसन्न, शान्त वीतराग प्रतिमा का श्रद्धा पूर्वक दर्शन, मनन, चिन्तन करना चाहिये, जैसे कि भूगोल पढ़ने वाला विद्यार्थी भूगोल की पुस्तक में किसी देशका वृत्तान्त पढ़कर मानचित्र (उस देश के नक्शे) को देखकर अपने पुस्तक ज्ञानको दृढ बना लेता है उसी तरह वीतराग अर्हन्तदेव की प्रतिमा अपने शुद्ध, शान्त, प्रसन्न निर्भय आत्मा का यथार्थ मानचित्र (नकशा) है उसके दर्शन स्तवन मनन, पूजन से आत्मा को उस रूपमें पहुंचने की प्रेरणा मिलती है।

उस वीतराग अर्हन्त देवकी वाणी जिन ग्रन्थों में उल्लिखित है उन ग्रन्थों के स्वाध्याय करने पढने, पढाने, सुनने सुनाने, मनन करने से उस मार्ग का पता चल जाता है, जिस मार्ग पर चलकर संसार की अनेक साधारण आत्माएं परमात्मा बन चुकी हैं।

तत्पश्चात् उन सद्गुरु की सेवा भक्ति करके आत्मा को शुद्ध करने

की क्रियात्मक शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये जो वीतराग पथ का पथिक है, संसार, विषय भोग और शरीर की मोहमाया से दूर है, आत्मशुद्धि करने के साथ ही विश्वहित करना जिसका कार्य है, स्वयं अभय है; दूसरों को निर्भय बनाता है, कषायों और इंद्रियों का विजेता है, ज्ञानी ध्यानी, परमतपस्वी है, लेशमात्र भी जिसके पास परिग्रह नहीं है।

इन चार बातों (१—अपने आपको समझना, २—अर्हन्त प्रतिमा का दर्शन, ३—अर्हन्त वाणी का स्वाध्याय, ४—सद्गुरु की सेवा भक्ति) से धर्मका बीज हृदयमें अंकुरित हो जाता है और मनुष्य की विचारधारा ठीक दिशामें बहने लगती है, संसार के चमकीले पदार्थों की चमक-दमक उस व्यक्ति को पथभ्रष्ट नहीं कर सकती।

धार्मिक विचारधारा वाले मनुष्य को यदि विशेष कोई रुकावट न हो परिवार से दूर हो जानेमें कोई खास बाधा न हो, हृदय में उत्साह दृढता और शरीर में विघ्न बाधा कष्ट को सहन करने की शक्ति हो, तब तो शीघ्र आत्मसिद्धि पाने के लिये सब जगजंजालको छोडकर महाव्रतधारी साधु बन जाना चाहिये जिससे रातदिन सारा समय आत्मसाधना और जगहित करने में व्यतीत हो और मनुष्यभव का एक क्षण भी व्यर्थ न जाने पावे।

यदि इतनी सामर्थ्य और सुविधा न हो, अनेक पारिवारिक उत्तर-दायित्व परिवार का बन्धन सहसा (एकायक, तत्काल) न तोडने दे तो मनुष्य को गृहस्थाश्रम में ही आदर्श व्यक्ति बनकर रहना चाहिये।

आदर्श व्यक्ति

जो व्यक्ति धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों (पुरुषों-द्वारा करने योग्य कार्यों) में पहले तीन पुरुषार्थों का ठीक निर्विघ्नरूपसे (किसीभी पुरुषार्थ में बाधा न लाकर) आचरण करता है (मोक्ष पुरुषार्थ का साधन मुनि महात्मा करते हैं) वही गृहस्थाश्रम में आदर्श व्यक्ति है। जो व्यक्ति धर्म, अर्थ, काम पुरुषार्थ की मर्यादा में गडबड कर देता है— किसी पुरुषार्थ का पालन करता है, किसीका नहीं करता है वही मनुष्य

अपने आदर्श लक्ष से चूककर पथभ्रष्ट हो जाता है, आदर्श जीवनसे दूर हो जाता है।

धर्म—पुरुषार्थ

जिस पुरुषार्थ के द्वारा मनुष्य पतित से पावन बन जाता है, अवनति की कीचड से निकलकर उन्नति की स्वच्छ शिलापर पहुंचता है, दुर्गुणों के दुर्गंधित वायुमण्डलसे हटकर सुगुणों की सुगन्धित भूमि में पहुंच जाता है, स्वयं शान्ति से जीवन व्यतीत करता हुआ दूसरे प्राणियों को शान्ति से जीने देने की चेष्टा करता है, जो बुरे कार्य उसको अपने लिये इष्ट नहीं हैं वे काम वह दूसरों के लिये भी नहीं करता है, मन, वचन, काय की चेष्टा को अपने तथा अन्य प्राणियों के लिये दुखदायी नहीं बनाता वह सब क्रिया 'धर्म' है।

सत्य बोलना, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य आदि धर्म के अनेक प्रकार हैं किंतु उन सबमें 'अहिंसा' धर्म प्रधान है। किसी भी प्राणी को कषाय वश (क्रोध, मान, माया, लोभ, घृणा, स्वार्थ आदि के कारण) दुख न देना 'अहिंसा' है। जिस तरह अहिंसा सबसे बडा धर्म है क्यों कि प्रत्येक जीव चींटीसे भी छोटा कीडा क्यों न हो, अपने लिये अहिंसा चाहता है, सिंह, बाघ, भेडिया, बिल्ली आदि रातदिन अन्य निर्बल जीवों को निर्दयता से मारकर खानेवाले हिंसक जानवर, तथा प्रतिदिन पशु, पक्षियों, मगर मछलियों का शिकार करने वाले शिकारी मनुष्य भी अपने लिये वैसा हिंस्रव्यवहार नहीं चाहते। वैसे निर्दय व्यवहार से वे डरते हैं भागते हैं। पिंजडे में फंसे हुए वनराज सिंह को यदि भाले की नोक से छेदा जाय तो हिरण आदि जानवरों को अपने तीक्ष्ण नख और दांतों से विदीर्ण करने वाला वह सिंह भी छटपटाता है, असह्य वेदनासे व्याकुल हो जाता है। सिंह के बच्चे को यदि सिंह के सामने मारने की चेष्टा की जावे तो उस सिंह का हृदय क्षुब्ध हो उठता है।

असंख्य मूक पक्षियों के जीवन से खिलवाड करनेवाले, अपनी वीरता पर गर्वीले यदि किसी शिकारी मनुष्य को निःशस्त्र करके गोली का लक्ष बनाया जाय तो उस समय उसका हृदय तिलमिला उठता है,

उसकी वीरता और गर्व कपूर की तरह उड जाते हैं, वह नहीं चाहता कि किसी भी तरह बडे से बडे पारितोषक के उपलक्ष में भी उसके जीवनका शिकार खेला जावे।

ये उदाहरण इस बात की साक्षी देते हैं कि हिंसक से हिंसक मनुष्य तथा पशु भी अहिंसा धर्म की आवश्यकता का हृदय से अनुमोदन तथा समर्थन करता है। यह बात दूसरी है कि उसकी अहिंसक भावना की सीमा केवल उसके निजी शरीर या अपने परिवार तक ही है।

तो उसका यह अर्थ स्पष्ट है कि अहिंसा धर्म वह है जिसकी आवश्यकता का समर्थन न केवल धार्मिक मनुष्य करते हैं अपितु रात दिन दूसरे प्राणियों की रक्त से होली खेलने वाले निर्दय दुष्ट हिंस्र पशु तथा मनुष्य भी उस अहिंसा की आवश्यकता पर अपनी मुहर लगाते हैं।

जब कि ऐसा है तब जो मनुष्य स्वार्थवश धर्म का बाना पहन कर हिंसा को बली, यज्ञ, कुर्बानी आदिक नामसे धर्म बतलाने का साहस करते हैं तो क्या वे जीते जागते संसार को धोखा नहीं देते ?

यदि खुदा कुर्बानी से प्रसन्न होता है तो बकरे मुर्गी की कुर्बानी दे कर उनका जी क्यों दुखाते हैं ? अपने शिर की या अपने पुत्रकी कुर्बानी देकर खुदाको खुश करें।

यदि यज्ञमें जीवों का हवन करने से स्वर्ग मिलता है तो पुरोहित स्वयं (खुद) क्यों नही यज्ञ के हवन कुण्ड में कूदकर स्वर्ग प्राप्त करता है ? काली दुर्गा देवी को प्रसन्न करने के लिये उनके भक्त बकरेके बजाय अपना शिर काटकर उसके सामने क्यों नहीं रखते ? धर्म के नाम पर पशुओं की बली करनेवालों से प्रश्न है कि—

ऐसा करने में जब तुम्हारा हृदय भय और दुख से थर्राता है और तुम अपने प्राणों के बदले में स्वर्ग साम्राज्य सुमेरु पर्वतके बराबर सोना अथवा परमात्मा या देवी की प्रसन्नता भी प्राप्त नहीं करना चाहते तब क्यों संसार को धोखा देकर कुमार्ग का द्वार खोलते हो ? जिस बात का तुम्हे स्वयं विश्वास नहीं उस असत्य बातपर दूसरों को क्यों विश्वास दिलाते हो ?

धर्म के नाम पर हिंसा जैसे पापोंका प्रचार करने वाले जो धर्मगुरु हैं उनको सबसे प्रथम अपने जीवन की भेट देकर उस धर्म का जामा पहनने वाली हिंसा का समर्थन करना चाहिये किन्तु खेद है आज तक एक भी ऐसा धर्मगुरु संसार के सामने नहीं आया।

वे ग्रन्थ धर्मग्रन्थ किस तरह माने जा सकते हैं जिनमें निर्बल मूक जीवों की हिंसा करने का विधान है? यों तो फिर चोरी व्यभिचार आदि दुष्कर्मों का समर्थन करनेवाले ग्रन्थ भी धर्म ग्रन्थ माने जाने चाहिये।

कितना भारी भ्रम या दम्भ है कि जिन ग्रन्थों को पवित्र ईश्वर वाणी या ईश्वर का संदेश (पैगाम) कहा जाता है उनमें ही हिरन, गाय बकरे आदि दीन भोले पशुओंका निर्दयता से बध (कत्ल) करके ईश्वर के नाम पर भेंट करना, हवन करना लिखा है। सिंह, बाघ, भेडिया चीतेकी भेट कुर्बानी उन ग्रन्थों में नहीं लिखी है क्यों कि वे पशु पुरोहित और यज-मान को अपनी भेट का बदला तत्काल चुका सकते हैं ऐसे जीवों का भेट करना भी उन ग्रन्थो में कहीं नहीं बतलाया गया जिसका मांस मनुष्य अपने मुखसे नही लगाता।

उन धर्म ग्रन्थों के माननेवाले महानुभाव इस प्रश्न का तो उत्तर दें कि उनके विश्वास के अनुसार क्या ईश्वर उन दीन निर्बल मूक पशुओं का पिता नहीं है जिनको आप उसीके पवित्र नाम पर कत्ल कर उस विधान को ईश्वरवाणी कहते हो? क्या वे जीव तुम्हारे समान उस ईश्वर को प्यारी संतान या प्रजा नहीं हैं?

इस कारण धर्म अहिंसामय ही हो सकता है जिसका कि समर्थन, अनुमोदन संसारका प्रत्येक चर, अचर, हिंसक-अहिंसक, पशु पक्षी, कीट जलचर जानवर तथा प्रत्येक मनुष्य करता है।

अहिंसा का आचरण कौन कर सकता है?

यह तो अवश्य है कि जिसके हृदय में दुखी जीवों के लिये करुणा की धारा बहने लगती है, उनके दुखको दूर करने का विचार जिसके तत्काल उत्पन्न होता है, अपनी किसी भी मानसिक, वाचनिक तथा

शारीरिक क्रियासे जो किसी दीन हीन निर्बल प्राणी को कष्ट नहीं पहुँचाना चाहता, दूसरे के दुख में जिसको सहानुभूति होती है वह व्यक्ति अहिंसा व्रतका आचरण करता है।

किन्तु इसके साथ ही अहिंसा धर्म का सुन्दर सफल रूप से पालन करने के लिये मनुष्य में वीरता तथा निर्भयताका होना भी परम आवश्यक है क्योंकि कायर भीरु (डरपोक) मनुष्य अहिंसाका समुचित आचरण नहीं कर सकते। इसका कारण यह है कि कायर (बुजदिल) मनुष्य न तो स्व-अहिंसा कर सकता है क्योंकि किसी दुष्ट द्वारा अपने ऊपर आक्रमण होने के समय कायर मनुष्य अपनी रक्षा नहीं कर सकता वह तो भयभीत होकर इधर उधर लुकने छिपने की चेष्टा करता है या आक्रमणकारी के सामने गिडगिडा कर अपनी प्राणभिक्षा मांगता है अथवा साधारण दीन हीन पशु पक्षियों के समान अपने प्राण दे बैठता है उसको आततायी के सामने खड़े होकर उसका सामना करने का साहस नहीं होता, इसी कारण कायर मनुष्य पद पद पर ठुकराया जाता है, अपमानित होता है, मानसिक क्लेश सहता है। इसीलिये यह बात प्रचलित है कि वीर पुरुष अपने जीवन में एक बार सन्मान से मृत्यु प्राप्त करता है और कायर मनुष्य जीवनमें अनेक बार मरता रहता है।

तथा कायर मनुष्य जबकि स्व-रक्षा नहीं कर सकता तब वह विपत्ति के समय अपने परिवार की, स्त्रियों के सम्मान की, मन्दिर आदि धर्मायतन की और किसी अबला, दीन दुखी संत्रस्त प्राणी की रक्षा तो कर ही क्या सकेगा? इस दशा में अहिंसा धर्म का पालन भयभीत कायर मनुष्य कैसे कर सकते हैं?

अतः अहिंसाव्रती को निर्भय तथा बलवान होना चाहिये उसका मानसिक बल उन्नत होना चाहिये जिससे विपत्ति के समय साहस स्थिर रहे और विपत्ति को तथा दुष्ट आततायी को दूर भगाने का नैतिक बल उसमें कम न होने पावे।

उसमें वाचनिक बलकी भी कमी न होनी चाहिये उसकी आवाज सिंहकी आवाज की तरह हो, सत्य भाषण का बल उस आवाज में मिला

हुआ हो, गिडगिडाने चापलूसी करने के शब्द उस आवाज में न आने चाहिये और न इस आशंका एवं भय की छाया उसमें होनी चाहिये कि जनता का मत मेरे विरुद्ध है अतः मैं यथार्थ शब्द मुख से न निकालूँ, चुप रह जाऊं या हां में हां मिलाने लगूं। अहिंसाव्रतीको वेधडक होकर निर्भयता से या यथार्थ बात यथावसर कहने से न चूकना चाहिये जिससे उसका मन स्वच्छ शान्त रह सके, क्लेशित न होने पावे। इसके साथ ही उसकी वाणी दीन दुखी संत्रस्त प्राणी को धीरज, शान्ति, सन्तोष देने के लिये उनके दुख को कम करने के लिये बहुत मधुर (मीठी) भी होनी चाहिये। दीन, दुखी जीव के लिये कठोर वचन दुखदायक होते हैं।

इसी तरह अहिंसाव्रतधारी मनुष्योंमें अच्छा शारीरिक बल भी होना आवश्यक है क्योंकि निर्बल मनुष्य जब अपनी भी रक्षा नहीं कर सकता तब अपने आश्रित जन-पुत्र, स्त्री आदि की, शरणागत (अपनी रक्षाके विचारसे शरणमें आये हुए किसी भयभीत प्राणी) की तथा धर्मायतन मन्दिर, प्रतिमा, शास्त्र आदि की रक्षा किस प्रकार कर सकेगा?

इसलिये अहिंसा धर्मके लिये शूरवीर बनने की आवश्यकता है।

वीरता के साधन

वीरता एक आत्माका मुख्य गुण है जो कि प्रत्येक मनुष्यको मुख्यतः अपने माता पिताके संस्कारोंसे प्राप्त होता है। बच्चा जिस समय अपनी माता के पेटमें होता है उस समय यदि माता वीर पुरुषों की कथाऐ पढती सुनती और मनन करती रहे, शूरवीरों के चित्र देखती रहे, पिता वीरत्व की कामना से गर्भाधान करावे, अपनी पत्नीमें वीरताके भाव उत्पन्न करता रहे तो गर्भस्थ बालक में वीरताका संस्कार आता है। महाभारत की कथानुसार अर्जुन ने सुभद्राके गर्भवती होने पर सुभद्राको जो चक्रव्यूह का तोड़ना चित्र खींचकर समझाया था वही संस्कार गर्भस्थशिशु अभिमन्यु के आत्मामें आया और तदनुसार अभिमन्यु ने बिना सीखे ही द्रोणाचार्य के चक्रव्यूह को तोड दिया था।

जन्म लेने के पीछे बच्चेके पालन पोषणमें सावधानी रक्खी जावे

और उसको सात्विक, पौष्टिक, पदार्थ खिलाये जावे, सात वर्ष तक खूब खेलने कूदने का अवसर दिया जावे, कभी भी व्यर्थ डरानेकी भूत, हौवा आदि की—बातोंसे उसमें भयका संचार न किया जावे, उसके स्वास्थ्य का तथा बलवान शरीरका ध्यान रक्खा जावे।

जब वह पढने लगे उस समय पढाईका ध्यान रखते हुए उसके स्वास्थ्यकी उपेक्षा न करनी चाहिये। दूध तो जितना वह पी सके पिलाना चाहिये, खेलने कूदने, भागने दौडने, कुश्ती लडने आदि व्यायामके लिये बच्चे को सदा उत्साहित करना चाहिये।

लडका जब ११-१२ वर्षका हो जाय तब से उसको दुराचार तथा कुसंगतिसे बचानेके लिये यथासम्भव कडी निगरानी रखनी चाहिये। उसको ब्रह्मचर्यका महत्त्व, ब्रह्मचारियोंका आत्मतेज, बलवान शरीरका मूल साधन बड़े प्रेमसे समझाना चाहिये।

डंड, बैठक, मुद्गर घुमाना, डंबल उठाना, कबड्डी खेलना, योगासन करना आदि व्यायाम दैनिक रूपसे करने के लिये बच्चोंको उत्साहित करना चाहिये।

इसके सिवाय लाठी घुमाना, तलवार चलाना, गदका आदि अस्त्र शस्त्र संचालन भी बच्चोंको अवश्य सिखानेका प्रबंध कर देना चाहिये।

वृक्षोंपर चढना उतरना, पानीमें तैरना ये विद्याऐं भी अवसर पर प्राणरक्षक सिद्ध होती हैं अतः प्रत्येक बच्चेको ये भी अवश्य सिखानी चाहिये।

घुड़सवारी, साईकिल सवारी आदि कला भी वीरताकी साधनभूत हैं। इन्हें भी बच्चोंको सिखाना आवश्यक है इसके साथ ही बच्चोंको खेल कूद, व्यायाम आदिकी प्रतियोगिताओंमें भाग लेनेके लिये सदा उत्साहित करते रहना चाहिये।

इसके सिवाय लडकेका विवाह १८ वर्षसे पहले और लडकी का विवाह १४ वर्षसे पहले न करना चाहिये।

तथा मानसिक वीरता को उत्पन्न करनेके लिये प्रत्येक समझदार बच्चेको आध्यात्मिक पाठ पढाना चाहिये कि "तुम्हारा आत्मा अजर

अमर अविनश्वर है, इसको न आग जला सकती है, न इसको तीक्ष्ण शस्त्र छिन्न भिन्न कर सकता है, पानी इसको गला नहीं सकता, भारी झंझावात भी इसका कुछ नहीं बिगाड सकता। शरीर इसका अस्थिर घर है, एक घर छूट जाने पर दूसरा नवीन घर आत्माको अपने आप मिल जाता है।"

इत्यादि साधनों द्वारा वीर पुरुषोंका निर्माण होता है। वीर पुरुष ही निर्भय होते हैं और वे ही दूसरोंको अभयदान दे सकते हैं। अपनी, अपने परिवारकी, धर्मकी, धर्मायतनकी, दीन दुखी शरणागतकी तथा समाजकी रक्षा कर सकते हैं। भगवान ऋषभदेव, भरत सम्राट, शान्ति नाथ आदि तीर्थंकरों ने क्षात्रतेजके द्वारा जगतमें शान्ति अहिंसाका प्रचार एवं प्रसार किया था।

शंका

गुरुदेव ! यह आपने क्या कहा ? क्या अस्त्र शस्त्र चलाना, कुश्ती लडना, मल्ल बनना, योद्धा बनना हिंसाजनक कार्य नहीं ? इन कार्यो से अहिंसाका क्या सम्बन्ध है ? इसको स्पष्ट कीजिये।

समाधान

राजन् ! प्रत्येक कार्य के दो तट (पहलू) होते हैं तदनुसार मल्लविद्या, रणविद्या यदि दूसरोंको दुख पहुँचानेके अभिप्रायसे सीखी जाय तो वह पापजनक है, अहिंसाकी विरोधिनी है, यदि वह स्व-पर-रक्षाके अभिप्राय से ग्रहण की जाय तो वह अहिंसाकी साधन है। भगवान ऋषभदेव ने अपने पुत्रोंको मल्लविद्या रणविद्या सिखलाई थी जिससे भरत बाहुबली अच्छे रणकुशल योद्धा हुए विश्वविजेता चक्रवर्ती सम्राट हुए उन्होंने दीनोंकी रक्षा की धर्मका प्रचार किया।

अतः धार्मिक व्यक्तिको वीर अवश्य बनना चाहिये।

अहिंसाके सहचर

सत्य बोलना, दूसरोंकी निन्दा न करना, दीन दुखी प्राणी को दुखदायक कठोर वचन न कहना, दूसरोंकी चुगली न करना, किसीको

मर्मघातक शब्द न बोलना, पापजनक बात न कहना ये सब वाचनिक अहिंसाका रूप है इसका दूसरा नाम 'सत्य' है।

किसी अन्य व्यक्तिकी कोई भी वस्तु बिना पूछे न लेना, यदि कहीं पर कोई वस्तु किसीकी भूली हुई या पड़ी हुई मिल जावे तो उस वस्तुको अपने काममें न लेकर उसी के पास पहुँचा देना, यदि उसका स्वामी न मिले तो सेवा समिति, अनाथ आश्रम आदि परोपकारिणी संस्थाको दे देना, किसीकी धरोहर (अमानत) में कमी करने या उसे पूरी तरह पचाने का यत्न न करना आदि व्यवहार भी अहिंसाका ही रूप है इसका दूसरा नाम 'अचौर्य' है।

निज पत्नीके सिवाय अन्य समस्त स्त्रियोंको काम सेवनकी दृष्टिसे न देखना 'ब्रह्मचर्य' है यह भी अन्य व्यक्ति को मानसिक दुख न पहुँचानेकी दृष्टिसे अहिंसाका ही भेद है।

'लोक कल्याणका ध्यान रखते हुए लोकोपयोगी पदार्थों का संचय इस ढंगसे न करना जिससे जनता कठिनाईका अनुभव करने लगे, कष्ट पावे' यह भी अहिंसाका ही भेद है जिसे कि 'परिग्रहपरिमाण' के नाम से कहते हैं।

अभिप्राय यह है कि स्व-पर (अपने तथा दूसरे) को कष्ट न पहुँचाने वाले, सब जीवोंको सुख शान्ति देने वाले जितने भी कार्य हैं वे सभी अहिंसा धर्ममें गर्भित हैं।

आध्यात्मिक धर्म

जिन कार्योंसे अपना आत्मा उन्नत होता है, आत्मामें पवित्र भावनाएं जाग्रत होती हैं, विकृत दूषित भाव दूर हटते हैं वे कार्य 'आध्यात्मिक धर्म' हैं।

सामायिक करना, स्वाध्याय करना, वीतराग देवका दर्शन, पूजन चिन्तवन करना, सद्गुरुकी सेवा भक्ति करना, भावनाओंका चिन्तवन करना, शुद्ध आचार, शुद्ध आहार विहार संयम, तप, त्याग इत्यादि कार्योंसे आत्म-उत्थान होता है अतः ये सब आध्यात्मिक धर्म हैं।

आत्मशुद्धिका अभिलाषी पहले निरंजन निर्विकार वीतराग देवका

भक्त बनता है उस समय वह 'दासोहं' यानी 'हे भगवान! मैं आपका दास हूँ' ऐसी भावना करके उनके गुणोंका मनन करता है। उस समय वह साधारण आत्मा होता है।

फिर वह वीतराग बनने के लिये बाह्य पदार्थोंसे ममता त्यागकर आत्म ध्यानमें प्रवृत्त होकर 'दासोऽहं' के स्थान पर 'सोऽहं' (यानी-जो वीतराग अर्हन्त देवका रूप है वही रूप मेरा है) का ध्यान करता है। तब वह साधारण आत्मा से 'महात्मा' (अन्तरात्मा) हो जाता है।

आत्मध्यान करते करते जब वह समस्त आत्मविकारोंको आत्मासे दूर हटाकर निर्विकार बन जाता है तब वह महात्मासे 'परमात्मा' बन जाता है।

इस तरह की आत्मशुद्धिकी प्रक्रिया या प्रणालीका मूल कारण 'आध्यात्मिक' धर्म है।

व्यावहारिक धर्म

जनताके सम्पर्कमें आने पर जनता को कष्ट न पहुँचाने वाली प्रवृत्तिको या जनताको सुख देने वाले व्यवहार को 'व्यावहारिक धर्म' कहते हैं। इसके कुछ गणनीय भेद निम्नलिखित हैं—

दान

प्रत्येक व्यक्ति वह चाहें व्यापारी हो या नौकर जो कुछ भी धन संचय करता है उसमें समस्त जनता का कुछ न कुछ अंश अवश्य होता है। व्यापारी लोग माल बेचकर जो लाभ लेते हैं वह लाभ उनको सर्व साधारण ग्राहकोंसे प्राप्त होता है, राजकर्मचारी (सरकारी नौकर) जो राजकार्यालय (सरकारी दफ्तरों) से वेतन (तनखा) पाते हैं वह रकम सर्वसाधारण जनतासे अनेक प्रकारके करों (टैक्सों) के रूपमें एकत्र की जाती है। अतः कोई भी व्यापारी वह चाहे कोटिपति हो या अरबपति और कोई भी राजकर्मचारी वह चाहे प्रधानमंत्री हो या राष्ट्रपति अथवा प्रधान सेनापति ही क्यों न हो सर्वसाधारण जनताके (जिसमें दरिद्रसे दरिद्र और नीचसे नीच व्यक्ति भी सम्मिलित हैं) धनका अंश ग्रहण करके अपना भण्डार भरता है।

इस दशामें कोई भी व्यक्ति अपने पास संचित धनका स्वामी केवल अपने आपको समझ लेवे यह उसकी भूल है। अतः अपने संचित द्रव्य को सदा यथाशक्ति आवश्यकता अनुसार जनताके कल्याणमें दीन दुखी जीवोंके दुख दूर करनेमें, अनाथोंके पालन पोषणमें अथवा शिक्षा स्वास्थ्य के प्रचारमें कुछ न कुछ द्रव्य स्व-इच्छा से दान करते रहना चाहिये।

जिस प्रकार नदियां स्वच्छ जलसे नहीं भरा करतीं नाले नालियोंके गन्दे पानीसे उनका पेट भरता है, इसी तरह धनका संचय भी पूर्णतः न्यायपूर्वक नहीं होता उसमें प्रायः अनेक झूठ कपट अनीति धोखाधड़ी आदि कुकार्य करने पडते हैं, ऐसे पाप अंशोंसे अपने आत्माको सुरक्षित रखनेके लिये दान करना एक अच्छा सरल साधन है।

इसके सिवाय न तो धन संपत्ति जन्मसमय आत्माके साथ आती है और न मरण समयपर दूसरे भवके लिये साथ जाती है यानी सब कुछ यहीं पर छोड जाना पडता है। तब फिर अपने हाथसे उस धनको धर्मप्रचार दीन दुखी जनके दुखविनाश तथा जनता के उपकार के लिए स्वयं दान कर देना चाहिये जिससे कि परउपकार हो और अपने आपको निर्मल कीर्ति प्राप्त हो।

कोई देकर के मरता है, कोई मर करके देता है।
जरा से फर्कसे बनते हैं, ज्ञानी और अज्ञानी॥

यह नियम है कि दान करने से धन कम नहीं होता अपितु और अधिक बढता है, अतः ऐसा उपयोगी कार्य करते हुए कभी न चूकना चाहिये।

धन रखा अगर मंजूर, तो धनवालो बनो दानी।
कूएसे जो नहीं निकला, तो सब सड जायगा पानी॥

इस कारण जिनालय विद्यालय, पुस्तकालय, अनाथालय, विधवालय अपाहिज अशक्त व्यक्तियों के लिए भोजनालय, व्यायामशाला आदि संस्थाके उद्घाटन तथा संचालन के लिए शक्ति भर दान अवश्य करना चाहिए।

सेवा

संसार में अनेक प्रकार की दुरघटनाएं होती रहती हैं उनके द्वारा अनेक प्राणी सँकट में पड जाते है और उनमेंसे अनेक ऐसे निराश्रय असहाय होते हैं जिनको तत्काल सेवा शुश्रूषा की आवश्यकता होती है यदि उस समय उनकी सेवा न की जाय तो उनका जीवन सँकट में पड जाता है। ऐसे संकटग्रस्त व्यक्तिको सेवा करना अहिंसा-धर्म उपासक जैन का मुख्य कर्तव्य है कि उस समय दरिद्र, नीच छोटे बडे आदि का विचार हृदय में रंचमात्र भी न लाना चाहिये। मुनिसंघमें यदि कोई साधु रोगी होता है तो उच्च पदासीन आचार्य भी उसकी सेवा स्वयं करते हैं।

अतः रोग ग्रस्त, दुर्घटना ग्रस्त अथवा निर्बलता के कारण विपत्ति ग्रस्त जिस किसी भी प्राणी को गिरा पडा मूर्छित घायल या मरणासन्न देखो उस समय अन्य सब काम छोडकर उसकी सेवामें लग जाओ यदि उस समय तुमको लेनेके लिए इन्द्र विमान भी आवे तो उसको भी लौटा दो और उस सेवा के कार्य में जुट जाओ।

वे मनुष्य नही हैं नर पिशाच हैं जो अपने पडोसी या पास के अथवा सामने आये विपत्तिग्रस्त दीन, हीन, असहाय, विधवा, अनाथ व्यक्तिपर आयी हुई विपत्ति के समय उसकी सेवामें अपनी हीनता का अनुभव करते हैं। दयालु वही है जो किसीकी विपत्ति-दुरवस्था को सुनकर, देखकर तिलमिला उठता है और उसकी सेवामें तुरन्त लग जाता है।

पर-उपकार

मनुष्य जगतमें धन सम्पत्ती से बडा नही बना करता क्यों कि धन सम्पत्ति तो वेश्याओं के पास भी बहुत संचित हो जाती है। मनुष्य को उच्च बनानेवाला 'परोपकार' हैं।

मनुष्य को सदा अपना व्यवहार ऐसा रखना चाहिये कि उसके किसी भी कार्य से अन्य जीवों को हानी-दुख न पहुंचे। दूसरे प्राणियों

को सुख, शांति, धैर्य, साहस, उत्साह उत्पन्न करने की मनो कामना, वाणीका प्रयोग और शरीर प्रवृत्ति होनी चाहिये।

परोपकार केवल धनसे ही नही होता, किन्तु मन, वचन, काय के द्वारा भी होता है।

'कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्'
सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः'

इत्यादि मानसिक भावना परोपकार की जननी माता है इस माता को हृदयासन पर बडे आदर के साथ विठाना चाहिये।

वाणी से सदा अमृत वरसाओ, भूले भटकों को सुमार्ग बतलाओ, दुखी प्राणियोंको मीठे वचनों से धैर्य दो अच्छे कार्य करने के लिये तथा बुरे कार्य त्याग देने के लिये दूसरों को उपदेश करते रहो दूसरेका दुख स्वयं नही मिटा सकते तो दूसरे व्यक्ति का अपनासिष्ट प्रामाणिक वचन से प्रेरणा करो। इत्यादि ढंगसे वचन द्वारा उपकार किया जाता है।

इस शरीर का मूल्य वैसे तो कुछ भी नहीं है यह केवल रक्त, पीप, मांस, कफ, टट्टी मूत्र हड्डी आदि अपवित्र पदार्थों का पुतला है, यदि यही शरीर अन्य जीवों के उपकार में काम आता रहे तो यह तुच्छ नगण्य शरीर अमूल्य बन जाता है इस कारण जब कभी भी अवसर आवे दूसरों का उपकार करते कदापि न चूको यदि कोई दीन लकडहारा मजदूर किसी भारे वजन को अकेला उठाकर अपने शिर पर नही रख सकता, तुम्हारे हाथों की सहायता उसे चाहिये तो तुरन्त उस बोझ को हाथ लगाकर उसके शिर पर रख दो, यदि किसी गरीब गाडीवान की गाडी कहीं फस गई है तो उसको सहारा देकर उसे उस कीचड से निकाल दो, यदि चलता हुआ कोई अन्धा मनुष्य नालीसे या अन्य किसीसे टकराना चाहता है तो उसे बचा दो, प्यासे को पानी पिला दो, भूखे को खाना खिला दो इत्यादि पद पद पर उपकारक कार्य प्रतिसमय मिलते रहते हैं उनको अवश्य करते रहना चाहिये।

सामाजिक-धर्म

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है वह अकेला कभी नहीं रह सकता एकांत प्रिय मुनि महात्माओं को भी आहार शास्त्र आदि के लिये भक्त गृहस्थों के समागम की परम आवश्यकता रहती है। अतः प्रत्येक मनुष्य को वैयक्तिक (निजी-परसनल) स्वार्थ की अपेक्षा सामाजिक अभ्युदय का अधिक विचार रखना चाहिये।

एक एक व्यक्ति को मिलाकर समाजका निर्माण होता है और उसी समाजके द्वारा धर्म का पथ संचालन होता है धार्मिक (धर्मपालक) के विना 'धर्म' कुछ भी वस्तु नही। अतः अपने समाज के प्रत्येक व्यक्ति की परिस्थिती का विचार करना, किसीको भी अपने संघसे दूर न होने देना अन्य व्यक्तियों को अपने समाज में समुचित ढंगसे प्रविष्ट करना सभी संभव समुचित साधनों से समाज का संघटन बलवान बनाना तथा समाज को अनेक उपायोंसे उन्नत बनाना 'समाज-सेवा' है।

सम्यग्दृष्टि (सच्चे श्रद्धालु) के लिये उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये चार कार्य सामाजिक अभ्युदय की दृष्टि से ही आवश्यक बतलाये हैं। इन अंगों का आचरण करना धार्मिक व्यक्ति के लिये परमावश्यक है।

सामाजिक धर्म आचरण के लिये निम्नलिखित चार प्रवृत्तियोंको अपनाना चाहिये।

१-विश्वमैत्री, २-गुणि समादर, ३-दुःखित दया, ४-दुर्जन उपेक्षा।

संसार के प्रत्येक प्राणी को अपना मित्र समझना चाहिये, किसीसे भी द्वेष (शत्रुता) का भाव न रखना चाहिये। इस 'विश्वप्रेम' के कारण प्रेममय वातावरण बनता है और सर्वत्र शांति उत्साह का प्रसार होता है।

सदाचारी गुणी विद्वान पुरुषोंका समागम होने पर हर्ष के साथ उनका स्वागत आदर सत्कार करना चाहिये क्यों कि गुणी पुरुषों के आदर से ही गुणों का विकास होता है।

दुखी जीवों को देखकर हृदय में दया की धारा बह उठना स्वाभा-

विक है। जो व्यक्ति दूसरों के दुख मिटाने का मनसे भी प्रयत्न करता है, प्रकृति (भाग्य) उसको दुखसे दूर रखती है।

जो लोग दुष्ट स्वभावके हैं, यत्न करने परभी जिनका दुष्टस्वभाव सुधरता नहीं है ऐसे मनुष्यों से उपेक्षा रखनी चाहिये, न उससे मित्रता करनी चाहिये, न शत्रुता।

धर्माचरण का स्थान

जनता में एक श्लोक प्रचलित है कि—

अन्यक्षेत्रे कृतं पापं धर्मक्षेत्रे विनश्यति।
धर्मक्षेत्रे कृतं पापं वज्रलेपो भविष्यति॥

अर्थात् घर बाजार बाग आदि स्थानों पर कीये गए हिंसा असत्य-भाषण चोरी व्यभिचार आदि पापों का क्षय मंदिर में ईश्वर वन्दना करने से हो जाता है किन्तु देवमन्दिर में किया गया पाप कहीं भी किसी तरह नहीं छूट सकता। यानी मन्दिर आदि धर्म स्थानों में धर्म करना चाहिये, पाप न करना चाहिये।

किन्तु यह धारणा कुछ भ्रामक है क्यों कि मंदिर आदि धर्मक्षेत्र वास्तव में धर्म की शिक्षा प्राप्त करने के स्थान हैं, धर्म शिक्षाकी पाठ-शाला हैं। वहां पर व्यक्ति वीतराग के दर्शन पूजन भक्तिसे राग द्वेष लोभ मोह मत्सर छोड़ने का पाठ पढता है, शास्त्र स्वाध्याय से पाप कार्यों की त्याज्यता का ज्ञान प्राप्त करता है। उस प्राप्त की गई धर्म शिक्षाका प्रयोग तो वहां से बाहर निकलकर भी होना चाहिये।

अतः घर में, बाजार में, दुकानपर, व्यापार में, बाग बगाचे आदि सैर सपाटे के स्थान में, चलने फिरने के स्थान में, लेने देने के स्थान में यानी संसार के प्रत्येक व्यवहार के स्थान में उस सीखे हुए पाठ का प्रयोग आवश्यक है। धर्म करने की या पाप वृत्ति छोड़ने की जो शिक्षा भगवान के सामने शास्त्रों के सम्पर्क में ग्रहण की थी उस शिक्षा की परीक्षा व्यवहार क्षेत्रों में हुआ करती है। उन स्थानों पर उस धर्म का यथाविधि प्रयोग करके परीक्षा में उत्तीर्ण होना चाहिये।

अतः सदा स्मरण रक्खो कि मन्दिर धर्म शिक्षण की 'पाठशाला' है,

और मन्दिर के वाहर समस्त स्थान धर्म की 'प्रयोग शाला' हैं।

जो व्यक्ति ऐसा नही करता या नहीं रख पाता उसको निश्चय रखना चाहिये कि 'उसका नाम धार्मिक व्यक्तियों की सूची में नहीं है'।

धर्म आचरण का समय

मनुष्य यदि अपने जीवन में सफल बनना चाहता है तो उसको प्रातः चार बजे निद्रा छोडकर उठ बैठना चाहिये वह समय सबसे उत्तम है उस समय शैया छोडकर हाथ पैर धोकर शुभ चितवन (आत्म-मनन) करना चाहिये भगवान की स्तुति करना चाहिये अच्छे मन्त्रों की जाप देनी चाहिये स्तोत्र उपदेशी भजन आदि पढना चाहिये।

तदनन्तर शौच, मुखधावन तथा स्नान से निवृत्त होकर कुछ व्यायाम (कसरत) करनी चाहिये फिर मंदिर जी में जाकर बडे, उत्साह से भगवान का दर्शन, पूजन, ध्यान करना चाहिये और शास्त्र स्वाध्याय करना चाहिये।

फिर मंदिर से वाहर आकर अपने व्यापार कारबार में जुट जाना चाहिये नियत समय पर प्रातः और सायं का नियमित भोजन करना चाहिये।

किन्तु प्रत्येक कार्य करते समय पाप वृत्तिका त्याग करके धर्म वृत्तिका अवलंबन करना परमावश्यक है। कूट कपट, चोरी, धोखाबाजी अन्याय अनीति विश्वासघात अभक्ष्यभक्षण पाप हैं। इन पापों का प्रयोग किसी भी कार्य में न करना चाहिये। सत्यता सहानुभूति शुद्ध भोजन पान न्याय नीति तथा अचौर्य का प्रयोग निरन्तर करते रहना श्रेयस्कर है। यानी धर्म सदा करते रहना चाहिये।

धर्म करनेसे क्या लाभ होता है ?

धर्म करने से मनुष्य मनुष्य बनता है पशुता उससे निकल जाता है। वह संसार में विश्वासपात्र बनता है, निर्भयता उसमें स्वयं आ जाती है, उसकी वाणीमें प्रभाव, दृढता, यथार्थता आती है, मुख पर तेज और सौम्यता प्रगट होती हैं लोकप्रियता छाया की तरह उसके पीछे फिरती है। व्यापार नौकरी आदि प्रत्येक दशामें सफलता उसके

पैर चूमती है कीर्ति पानी में पड़े तेल की तरह चारो ओर फैलने लगती है अपने आप जनताका मैदान, राजद्वार आदि प्रत्येक स्थान पर उसका स्वागत होता है। सौभाग्य उसका दास होजाता है।

अर्थ-पुरुषार्थ

गृहस्थाश्रमकी गाडी निर्विघ्न, निराबाध चलते रहने के लिये अर्थ-संचय (धन-उपार्जन) की अनिवार्य आवश्यकता है। इसका मुख्य कारण यह है कि धनको माध्यम (केन्द्र) मानकर जीवन-उपयोगी पदार्थ प्राप्त हुआ करते हैं। विधि उपायोंसे उस धनका उपार्जन करना संचय करना ही अर्थ पुरुषार्थ है।

समस्त मनुष्यसमाज धनको केन्द्र बनाकर उसको प्राप्त करनेके लिये अनेक प्रकारके उचित अनुचित, कठिन सरल, इष्ट अनिष्ट उपायों का प्रयोग कर रहा है। अनेक प्रकारके युद्ध, विप्लव, क्रान्तियां इसी अभिप्रायसे हुआ करतीं हैं, विभिन्न शासन पद्धतियोंका मूल भी यही धन है, विविध आविष्कार, अन्वेषण, छानवीन, आकाश, जल, थलकी भाग दौड भी इसी धनके लिये हुआ करती है, पुलिस, सेना, गुप्तचर, विविध राजविभागोंकी हलचलका मूल कारण भी यह धन है। सारांश यह है कि संसारका प्रत्येक छोटा बडा, ज्ञात, अज्ञात, उचित अनुचित आन्दोलन इसी धनके लिये हुआ है, होता है, हो रहा है और होता रहेगा।

धन-उपार्जन करना जैनधर्मकी दृष्टिसे निषिद्ध नहीं, किसी भी जैन ग्रन्थका यह अभिप्राय नहीं कि गृहस्थ व्यक्ति अपनी आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये धन-संचय न करे।

कितना धन-संचय किया जावे ?

मनुष्यको धन संचय कितना करना चाहिये ? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि जो मनुष्य अपने लिये जितना धन आवश्यक समझता है तथा जितना धन संचय कर सकता है उतना करे।

कोई व्यक्ति लक्षाधीश बनना चाहता है वह लक्षाधीश बननेका उद्योग करे, कोई कोटिपति या अरबपति बनना चाहता है तो वह वैसा

उद्योग कर सकता है। कोई व्यक्ति किसी देशका शासक बनना चाहता है, राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री बनना चाहता है वह वैसा बननेका प्रयत्न करे, कोई मनुष्य बडा निर्माण विशेषज्ञ (इंजीनियर), वैज्ञानिक, डाक्टर, विधिविशेषज्ञ (कानूनका विद्वान) बनना चाहता है, या किसी भी दिशा में कोई उच्च योग्यता प्राप्त करना चाहता है अथवा कोई चक्रवर्ती सम्राट् बनकर जगत पर शासन करना चाहता है तो जैनधर्म उसको ऐसा करनेसे रोकता नहीं, न उसके मार्गमें कोई अन्य रुकावट डालता है। जैनधर्म तो प्रत्येक व्यक्तिको जगत्पूज्य परमात्मा बन जानेतककी सर्वोच्च उन्नति प्राप्त करनेकी प्रतिदाण, पद पद पर अनन्य प्रेरणा करता है। इस कारण यदि कोई जैनधर्मका उपासक किसी भी दिशामें सर्वोच्च पद प्राप्त करना चाहता है तो जैनधर्म उसको वैसा करनेमें लेशमात्र भी अनुत्साहित नहीं करता।

किन्तु—

धन-उपार्जनकी प्रणालीमें कुछ आचरण करने योग्य सुन्दर नियम या नियन्त्रण बतलाता है जिससे कि वह अर्थ-उपार्जनकी प्रक्रिया निर्दोष या निर्विष बन जावे।

वे नियम या नियन्त्रण

१—अर्थ उपार्जन करते समय अन्याय न किया जावे।

२—अर्थ—उपार्जनमें किसी अनीति (बेईमानी) का आश्रय न लिया जावे।

३—अर्थ-उपार्जनमें स्वार्थकी अपेक्षा देश-जाति-समाजका हित अपनी दृष्टिमें विशेष रखना चाहिये—यानी—जिस धन—संचयमें अपने देश-जाति-समाजका अहित होता हो वह धनसंचय त्याज्य है।

४—धनका ठीक उपयोग किया जावे।

५—तथा—'धन आत्माका कहां तक साधक तथा बाधक है' इस सिद्धान्तका सदा ध्यान रहे।

इन नियमोंका स्पष्ट विवरण (खुलासा) यह है—

अधिक धनिक या व्यापारी अपने व्यापारको उन्नत बनानेकी

चेष्टा तो करें किन्तु अन्य निर्बल-अल्पधनी, अल्पसाधन सामग्री वाले व्यापारियोंका सत्यानाश करनेका उद्योग न करें, उनको भी थोडी पूंजी से व्यापार करने दें 'बडी मछली छोटी मछलियोंको खाकर अपना उदर और मोटा करती है' वाली प्रवृत्ति निन्दनीय है, ऐसा अन्याय कदापि न करना चाहिये। क्योंकि ऐसा करनेसे एक तो अन्य व्यापारियोंका विनाश होता है, दूसरे इसकी प्रतिक्रिया (रेक्शन) में कभी कभी उनका अपना भी विनाश हो जाता है।

अनीति तो व्यापारको चौपट करने वाली एक दूषित क्रिया है। उससे अपने आत्माका पतन होता है तथा व्यापारिक क्षेत्रमें अविश्वास फैल जाता है, जिससे कि अनीतिका अवलम्बन करने वाला व्यापारी व्यापारमें पिछड़ जाता है।

अनीति के अनेक प्रकार हैं जैसे कि—

१—वाचनिक अनीति—वचन द्वारा मालका भाव कुछ ठहराकर लेन देनमें असत्य बोलकर कम अधिक लेना देना।

२—लेखन अनीति—वही, खाता, बीजक, पत्र आदिमें कुछ का कुछ लिखकर ग्राहक, आढ़ती विक्रेता या सरकारके साथ धोखेबाजी करना।

३—तोल मापकी अनीति—माल तोलने मापनेमें कमी बेशी करना।

४—माल सम्बन्धिनी अनीति—असली मालकी रकम पर नकली माल देना, मिलावट करके देना, अच्छे मालकी रकम लेकर घटिया माल देना आदि।

५—दास-अनीति—अपने नौकरोंसे अनुचित अधिक काम लेकर निर्धारित रकमसे कम वेतन देना, आवश्यक अवकाश (छुट्टी) न देना, तंग करना उनके साथ दुर्व्यवहार करना आदि।

६—चोर बाजारी—राजनियन्त्रित या समाज नियन्त्रित (कन्टरोल) मूल्य वाले पदार्थोंको जनताकी आवश्यकता अनुभव करके चोरीसे अधिक मूल्य पर बेचना।

७—देशद्रोह—जिन पदार्थोंका क्रय विक्रय (खरीद बिक्री) देशहित के विरुद्ध हो उन पदार्थोंका खरीदना बेचना ।

८—राजकर-अतिक्रम—चुंगी आदि करों (टैक्सों) को चोरीसे, लुकाछिपीसे बचाना ।

९—जनता द्रोह—सर्वसाधारण जनताकी कठिनाईका अनुभव करके अनुचित रूपसे माल महंगा कर देना ।

इत्यादि अनेक प्रकारकी अनीतियां (बेईमानियां) हैं जैनधर्मके उपासक व्यापारीको ये अनीतियां छोड़ देना उचित है ।

व्यापार करते समय अर्थ-उपार्जनमें जनताके तथा देशके हितका ध्यान भी अवश्य रखना चाहिये ।

एक व्यक्ति यदि वैद्य डाक्टर है तो उसको ऐसा विचार कदापि न करना चाहिये कि जनतामें ज्वर, अतिसार, प्लेग, हैजा आदि भयानक रोग फैल जावे जिससे मेरा व्यापार खूब चले ।

अन्नके व्यापारीकी भावना ऐसी न होनी चाहिये कि देशमें दुर्भिक्ष हो जावे जिससे अन्नका अकाल होकर अन्न महंगा हो जाय और मुझे मालामाल बननेका अवसर मिले ।

युद्ध-उपयोगी पदार्थोंके व्यापारीके ऐसे विचार कदापि न होने चाहिये कि देशमें युद्ध-अग्नि भड़क उठे जिससे मैं अच्छा धन-उपार्जन कर सकूँ ।

इसी तरह अपने स्वार्थके लिये देश, जातिके विनाश करने वाले अन्य विचार, चेष्टा तथा व्यापार करना भी अनुचित है । ऐसे मनुष्यों को अपने काले भविष्यकी बात न भूल जानी चाहिये ।

सेठजी को फिक्र थी एक एकके दस दस कीजिये ।
मौत आ पहुंची कि हजरत जान वापिस कीजिये ॥

जूआ-सट्टा

कुछ व्यक्ति जो परिश्रम करनेसे डरते हैं तथा बहुत जल्दी धनवान बनना चाहते हैं वे जुआ खेलना या सट्टा खेलना अपनाते हैं । जुआ एक निन्द्य एवं निषिद्ध व्यापार है । जुआ खेलने वाले लोग प्रायः

दुराचारी हुआ करते हैं या हो जाते हैं, उनको अपना काम लुक छिप कर चोरीसे करना पडता है।

सट्टा एक सभ्य जुआ है जिसको सभ्य शिक्षित लोग किया करते हैं. राज्यसे भी सट्टा निषिद्ध नहीं है किन्तु है यह भी उसका बडा भाई। जिस प्रकार जुआ स्वल्प समयमें धनवानको निर्धन बना दिया करता है उसी प्रकार सट्टा भी लक्षाधीशोंको थोड़े ही समयमें खाकाधीश (धन शून्य) बना देता है। सट्टे तथा सट्टे जैसे अन्य व्यापारोंसे बचे रहना चाहिये। पसीने (परिश्रम) से कमाया हुआ धन स्थिर रहता है। जुआ सट्टे आदि बिना परिश्रमसे आया धन ठहरता नहीं है, जैसे आता है वैसे ही चला जाता है। सट्टेबाज अपने जीवन में बीसियों बार लक्षाधीश बन बनकर खाकाधीश बन जाते हैं।

कर्मचारी

अनेक व्यक्ति व्यापारिक योग्यता तथा व्यापारिक साधन सामग्री न होनेके कारण नौकरी करके धन उपार्जन करते हैं। नौकरी में पराधीनतासे जीवन व्यतीत करना पडता है तथा एक नियत रकमके बदले में अपना भाग्य बेच देना पडता है, अतः जहां तक हो सके नौकरी करने वाले मनुष्योंको स्वतन्त्र व्यवसाय करनेका यत्न करते रहना चाहिये, छोटा व्यवसाय भी अभ्युदयका कारण बन जाता है।

जब मनुष्य नौकरी करे तब उसको अपने निम्नलिखित कर्तव्योंका पालन करना उचित है।

१—जो कार्य उसको दिया जावे उसको सुन्दर ढंगसे समयके भीतर समाप्त करनेमें प्रयत्नशील रहे।

२—जिस संस्थाका वह नौकर हो उस संस्थाकी उन्नतिमें मन, वचन, शरीरसे प्रयत्नशील रहे।

३—अपने वेतन वृद्धिके लिये वैध (न्याय) समुचित उपायोंका अवलम्बन करे।

४—परिश्रम करके अपनी उच्च योग्यताका परिचय देता रहे।

५—समयका दुरुपयोग न करे।

६—अनुशासनमें रहे।

७—जिन कामों से उस संस्था को हानि पहुँचती हो उन कामों से सदा बचता रहे।

८—नौकरी करता हुआ कर्मशूर बने चापलूस (खुशामदी) न बने।

९—अभिमान न करे किन्तु स्वाभिमान को सुरक्षित रक्खे।

१०—दुर्व्यसन, कुसंग और व्यर्थव्यय (फिजूलखर्ची) से बचता रहे

११—अपने वेतन (तनख्वाह) में से कुछ न कुछ रकम अवश्य बचाता रहे।

राजकर्मचारी

राजकर्मचारियों (सरकारी नौकरों) को ऊपर लिखे कर्तव्यों के सिवाय निम्नलिखित बातों का भी ध्यान रखना चाहिये।

अनेक प्रकार के करो (टैक्सों) से जो धन राजकोष (सरकारी खजाने) में एकत्र होता है उस रकम से समस्त राजकर्मचारियों (वे चाहे प्रधानमंत्री, प्रधानसेनापति या राष्ट्रपति ही क्यों न हों) को वेतन दिया जाता है, इस कारण वे वास्तवमें जनता के नौकर हैं अतः उनको जनता के साथ बहुत मधुर वर्ताव करना चाहिये।

उनको अधिकारमद (हुकूमतका नशा) न होना चाहिये और अपने कर्तव्य पालन में सदा सावधान रहना चाहिये।

रिश्वत खोरी से सदा दूर रहना चाहिये।

किसी स्वार्थवश अपने देशको हानि पहुंचानेकी कोई चेष्टा न करनी चाहिये।

शासकवर्ग

देशके शासनकी बागडोर जिसके हाथमें हो (वह चाहे राजतंत्रके ढंग पर हो, प्रजातंत्रके रूपमें हो या गणतंत्र प्रणाली हो) उसको देशका 'शासक' (राजा) कहते हैं। केन्द्रीय तथा प्रान्तीय उच्च राजअधिकारी भी शासक ही माने जाते हैं।

शासक वर्गको सदा अपने देशकी उन्नति तथा जनताके हितका

ध्यान रखना चाहिये। उनमें निम्नलिखित विशेषताएं अवश्य होनी आवश्यक हैं।

१—शासन सम्बन्धी परिज्ञान और योग्यता।

२—उच्चकोटिका सदाचार (मद्यपान, व्यभिचार, विलासिता, अन्याय, असभ्य भाषण आदि दुर्गुणोंसे शून्य) उसमें होना चाहिये।

३—कर्मण्यता यानी राजकार्य करनेमें तत्परता।

४—पक्षहीनता-यानी अपने दल, जाति, परिवार आदि का पक्ष (तरफदारी) न करना न्यायवृत्तिसे रहना।

५—देशभक्ति यानी अपने स्वार्थकी अपेक्षा देशकी भलाईका अधिक ख्याल रखना।

शासक वर्गका कर्तव्य

शासकवर्ग (राजा, राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, सेनापति आदि) अपने आपको जनता का सच्चा सेवक अनुभव करे। जनताके हितके लिये यदि कभी उसे प्राण भी संकटमें डालने पड़े तो उससे पीछे न हटे।

देशकी सुव्यवस्था (यातायात, पुलिस, सेना आदि द्वारा देशमें शान्ति स्थिर रखना) चालू रखनेके लिये जनतासे द्रव्य प्राप्त करनेका ऐसा सुगम उपाय व्यवहारमें लाना चाहिये जिससे जनताको कष्ट अनुभव न हो।

कर (टैक्स) जनता पर इस ढंगसे लगाना चाहिये जैसे मधुमक्खी फूलोंसे रस चूसती है किन्तु फूलोंको कुछ कष्ट नहीं होता यानी कर लेने में देशका व्यापार शिथिल न होने पावे और व्यापारियों तथा अन्य जनताकी आर्थिक स्थिति न बिगडने पावे।

जनतासे जो कर लिया जावे उसको जनताकी धरोहर सम्पत्ति मानकर राजकोषमें एकत्र किया जाय और जनताकी सुरक्षा, देशकी सुव्यवस्था पर ही व्यय (खर्च) किया जावे, लिये गये करोंमें से कुछ अंश स्थायी निधि (रिजर्व फंड) में रक्खा जावे जो कि अति आवश्यक समय पर ही खर्च किया जावे।

राज्यके लिये तीन संकट मुख्य हैं। १—परचक्रका आक्रमण,

२—विद्रोह, ३—आर्थिक संकट।

इनमेंसे पहला संकट अपनी सैनिक स्थिति दृढ बनाने तथा पड़ोसी राज्योंको शाम दाम दण्ड भेद नीति से अपने अनुकूल करनेके द्वारा टालना चाहिये।

दूसरा संकट सेना, पुलिस तथा जनताके असन्तोषके कारणोंको तुरन्त दूर करके मिटा देना चाहिये।

तीसरा संकट राजकीय खर्चोंमें (स्वयं अपने वेतनमें भी) कमी कर देनेसे दूर करना चाहिये।

देशकी सुव्यवस्थाके लिये गुप्तचर विभाग (जासूसी विभाग) बहुत अच्छा शिक्षित और संगठित रखना आवश्यक है।

राज्यवृद्धि

जिस प्रकार कुशल व्यापारी अपने बुद्धिबल तथा सतत उद्योगसे अपने व्यापार, कारोबारको बढाता है, अपनी पूंजीको कम नहीं होने देता उसी प्रकार चतुर शासक (राजा) अपनी राजसीमाको बढाता रहता है। कम तो होने ही नहीं देता।

शंका

गुरुदेव! राज्यसीमा तो अन्य राज्योंको अपने राज्यमें मिलाये बिना नहीं बढायी जा सकती। किन्तु अन्यराज्योंको दबाना अन्याय है तब न्यायपूर्वक राज्यसीमा कैसे बढायी जा सकती है!

समाधान

राजन्! पडोसी राज्य यदि अपनी जनता पर अत्याचार करते हों, जनता अपने शासकोंके अन्यायसे दुखी हो, धर्मका विध्वंस और पापका उत्थान हो रहा हो तो पराक्रमी, न्यायप्रिय राजाका कर्तव्य है कि वह अपने पराक्रमसे उन राज्यों पर आक्रमण करके उन्हे जीतकर अपने राज्यमें मिलावे और वहां पर सुख, शान्ति स्थापित करे तथा धर्मका बोलबाला पापका मुख काला करे। क्षात्रधर्मका तकाजा है कि वीर राजा अन्याय अधर्मको निर्मूल करनेके लिये सदा तयार रहे।

युद्ध करें ?

महात्मन् ! राज्य बढानेके लिये अथवा अन्यायी, अत्याचारी शत्रु का दमन करनेके लिये युद्ध करना आवश्यक होता है किन्तु युद्धमें अपार नर संहार होता है। ऐसा हिंसाकृत्य धार्मिक राजा कैसे कर सकता है !

समाधान

राजन् ! धार्मिक राजाको व्यर्थ किसीको सताना, किसी पर अकारण आक्रमण करना तथा बिना किसी उचित कारण उपस्थित हुए युद्ध छेड देना अनुचित है, अधर्म कार्य है और अन्याय है। ऐसा उसको कदापि न करना चाहिये ।

किन्तु पाप मिटानेके लिये, धर्म प्रचार करनेके लिये और शान्ति स्थापित करनेके लिये यदि युद्ध करना आवश्यक हो तो कमसे कम शक्तिका प्रयोग करके शान्ति स्थापनाके उद्देशसे उसको युद्ध भी करना चाहिये ऐसा किये बिना अत्याचार तथा पापकी बढवारीको वह नहीं रोक सकता ।

भगवान आदिनाथके परम धार्मिक सुपुत्र भरत सम्राट (जिन्होंने अन्तर्मुहूर्तमें आत्मशुद्धि कर सर्वज्ञ पद प्राप्त किया) ने षट् खंड विजय करनेके लिये अनेक युद्ध किये, श्री शान्तिनाथ कुन्थुनाथ अरनाथ तीर्थंकरों ने साम्राज्य प्राप्त करनेके लिये अगणित युद्ध किये। इनके सिवाय और भी अनेक धर्मध्वजी राजाओं ने धर्मरक्षाके लिये विशाल युद्ध किये हैं। सज्जनोंका तथा धर्मका रक्षण और अनीति अत्याचार का क्षय करना एवं दुर्जनोंको दण्ड देना राजाका कर्तव्य है, इसके लिये चाहे युद्ध ही क्यों न करना पड़े। भावना सदा शान्ति स्थापन तथा धर्मके फैलानेकी रहनी चाहिये। जनता पर अन्याय अत्याचार होता हुआ देखकर जो राजा उसको अपने पराक्रमसे नहीं मिटाता वह राज-पद के अयोग्य है एवं कलंकित राजा है।

इसी प्रकार साधारण गृहस्थ या व्यापारी सम्पत्ति या उसके परिवार पर कोई आक्रमण करे तो उस गृहस्थ या व्यापारीका कर्तव्य

है कि अपनी वीरताका परिचय दे और दुष्ट आततायीके दांत खट्टे करदे। अपनी तथा दीन हीन की रक्षा करना परमधर्म है।

सम्पत्ति समागमका मूल कारण

सम्पत्ति प्राप्त करनेके लिये मनुष्य अगणित, असीम उद्यम करता है, पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, वन, पर्वत आदि पदार्थ प्रकृतिकी ओरसे बिना किसी मूल्यके मुफ्तमें मिले हुए हैं किन्तु बुद्धिका निधान यह मनुष्य उन पदार्थोंके भी अनेक विभाग करके अपना अधिकार जमा लेता है और इन प्राकृतिक पदार्थोंसे भी भारी मूल्य प्राप्त करता है।

सम्पत्ति प्राप्त करनेके लिये मनुष्य अतलस्पर्श, अपार समुद्रके तल में पहुंचकर दूसरे किनारे तक पहुंच जाता है, विशाल आकाशको थर्रा देता है, अग्नि वायुको अपने संकेत पर नचाता है और पृथ्वीके गर्भसे बलात् अगणित निधियां खींच कर बाहर निकाल लाता है, वन पर्वतों की दुर्गमताकी धज्जियां उडा देता है।

किन्तु ऐसे साहसी उद्यमोंके द्वारा भी प्रत्येक मनुष्य सफलता प्राप्त नहीं कर पाता। बाहरी दौड धूप लगभग एक सरीखी होने पर भी किसी व्यक्तिको तो व्यापारमें लाभ हो जाता है, थोड़े परिश्रमसे थोड़े ही समयमें ही धनिक बन जाता है और कोई मनुष्य जन्म भर कठिन परिश्रम करने पर भी दरिद्र ही बना रहता है। साथ साथ पढने वाले विद्यार्थियोंमें से कोई तो अच्छे बडे वेतन (तनुख्वाह) पानेवाले किसी अच्छे स्थानको पा लेता है, दूसरे द्वार द्वारकी ठोकरें खाते फिरते हैं। जो दरिद्र परिवारके बच्चे धनिक परिवारमें दत्तक पुत्र बनकर जाते हैं वे तो बिना किसी परिश्रमके ही धनाढ्य बन जाते हैं।

ये सब बातें इस बातका संकेत करती हैं कि धन सम्पत्ति प्राप्त होनेमें केवल यह दीख पडने वाली दौडधूप ही कारण नहीं है कोई दूसरा भी अदृष्ट (न दिखाई देने वाला) अन्तरंग कारण है। उस अदृष्ट कारण को ही 'भाग्य' कहते हैं।

भाग्य क्या वस्तु है ?

प्रत्येक जीव अपने मानसिक विचारोंसे, अपनी वाणीसे और अपनी शारीरिक क्रियासे जैसा कुछ शुभ अशुभ वातावरण तयार करता है पौद्गलिक कर्मवर्गणाएं उसी प्रकारका प्रभाव ग्रहण कर उस आत्माके साथ मिल जाती है उन कर्म वर्गणाओंको ही भाग्य कहते हैं। यानी— भाग्य एक आध्यात्मिक मानचित्र (नकशा) या रिकार्ड है जिसमें जीव की प्रति समयकी अच्छी बुरी क्रिया (हरकत मोशन) ज्योंकी त्यो अंकित होती रहती है।

वह भाग्य रूपी रिकार्ड समय आने पर (कर्मके उदय कालमें) वैसा ही अच्छा बुरा वातावरण बनाने वाला स्वर निकालता है। इस कारण जिसने अपने पूर्व समयमें अपने त्रियोग (मन, वचन, शरीर) से स्व-परहितकारक दया, दान, उपकार आदि कार्य किया उसको हितकारक सामग्री प्राप्त होती है—धन सम्पत्तिके प्राप्त करनेमें सफलता प्राप्त होती है और जिसने अज्ञानवश दुखदायक—अन्यायसे अन्य व्यक्तिका धन हडपना, चोरी करना, डांका डालना, परोपकार या दान में द्रव्य न लगाना आदि कार्य किये उसको प्रकृति (भाग्य) अपना समय आने पर दंड देती है धन-प्राप्तिमें सफल नहीं होने देती उसकी दौडधूप उद्योगको निष्फल बना देती है।

दुर्भाग्य यानी प्रतिकूल भाग्यके समय ऐसा दुखदायक वातावरण (आस पास की परिस्थिति) बन जाता है कि सब ओरसे हानि ही हानि होती है, लाभ होता ही नही, सावधानीसे किया हुआ कार्य भी उलटा ही पडता है। अतः उस समय बुद्धि भी कुण्ठित हो जाती है अतः उस समय पद पद पर उद्योगकी हार होती है।

सौभाग्य (शुभकर्म) के समय प्रकृति सहायक होती है सब ओर से लाभ ही लाभ होता है, किये हुए कार्य भी सुलट जाते हैं। बुद्धि, वाणी, क्रियामें स्फूर्ति होती है, उद्योग अनेक गुणा सफल होता है, लक्ष्मी पैर चूमने लगती है।

उद्योग प्रबल है या भाग्य ?

भाग्य जब मनुष्यको अपने संकेत पर अनेक तरह नचाता है, उसके कार्योंको अपनी शक्तिसे सफल या निष्फल बना देता है, राजासे रंक और रंकसे राजा बनाना, ज्योतिष, वैद्यक, विज्ञानकी विधियोंको निःसार बना देना (रामचन्द्रके राजतिलकका समय प्रकाण्ड ज्योतिषियोंका द्वारा बतलाया गया किन्तु शुभ मुहूर्त एक दम अशुभ मुहूर्त बन गया, राजसिंहासन मिलनेके समय राजसीमासे बाहर चले जानेकी अपने पिता द्वारा ही राज-आज्ञा मिली) भाग्यके बांए हाथका खेल है। इस दशामें सर्वसाधारणकी दृष्टिमें भाग्य प्रबल और उद्योग निर्बल प्रतीत होता है।

किसी अंशमें है भी ऐसा, क्योंकि बलवान कर्म-उदयके समय मनुष्यका उद्योग सफल हो ही नहीं सकता, इस कारण भाग्यकी शक्तिको कम तो नहीं कहा जा सकता, उसकी अटूट शक्ति तो माननी ही पड़ेगी।

किन्तु, उस प्रबल शक्तिशाली दुर्भाग्य या सौभाग्यका निर्माण भी तो मनुष्य (जीव) का अच्छा या बुरा उद्योग ही करता है। यदि मनुष्यका अच्छा उद्योग सौभाग्यका निर्माण करता है तो उसका बुरा उद्योग उसके दुर्भाग्यकी सृष्टि (रचना) करता है।

अतः मूल कारण पर विचार किया जावे तो उद्योग ही भाग्यका जन्मदाता पिता या माता है. बिना उद्योगके सौभाग्य या दुर्भाग्यका लेशमात्र भी अंश तयार नहीं हो सकता। इस कारण भूलनेकी आवश्यकता नहीं कि 'भाग्यसे उद्योग बड़ा है।'

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन

अतः सारांश यह है कि जीव इस बातके लिये तो स्वतन्त्र है कि वह अपने भाग्यकी जैसी रचना करना चाहे वैसी करले। अच्छे स्व-पर-लाभ-दायक, हितकारी-दया, दान, परोपकार, सदाचारके कार्य करके सौभाग्यका निर्माण करना भी जीवके अपने हाथमें (अधिकारमें) है और स्व-पर दुखदायी—हिंसा, असत्य, चोरी,

व्यभिचार, निन्दा आदिके बुरे कार्य करना भी मनुष्यके अपने हाथमें है, उसको ऐसा करनेसे कोई रोक नहीं सकता।

किन्तु अपने अधिकारसे किये हुए उस कार्य द्वारा जो भाग्य उस जीवने अपने लिये बना लिया है उस भाग्य द्वारा फल प्राप्त करनेमें वह जीव स्वतन्त्र नहीं रहता—परतन्त्र हो जाता है। यानी अपने बनाये हुए भाग्यके अनुसार उसको फल अवश्य भोगना पडता है, उसमें उसकी इच्छा या स्वतन्त्रता कुछ नहीं कर सकती। भोजन करते समय मनुष्य स्वतन्त्र है कि चाहे तो वह दूध पीवे, चाहे विष पीवे किन्तु विष पी लेने पर उसकी स्वतन्त्रता छिन जाती है फिर तो विष का असर भुगतना ही पडता है।

इसलिये कर्म उदयके समय मनुष्यको अपने बोये हुए बीजका फल समझ कर उसका समभावसे (न प्रसन्नतामें फूल कर और न शोकमें रो पीट कर) स्वागत करना चाहिये। क्योंकि रोने पीटने, पछतायने, घबडाने, बडबडानेसे कुछ नहीं होता वह तो जितना जैसा बीज बोया है उतना वैसा फल भोगना ही पडता है।

तब करना क्या चाहिये

तब—कर्म फल मिलते समय यदि सुख सामग्री मिल रही है तो हर्षमें डूबकर धर्म, शुभ आचरण, स्व-परउपकार करनेमें प्रमाद न करो, उस पुण्यके वृक्षको और भी सींचो, सुकृति (शुभ क्रियाओ) के बीज और भी बोते रहो। यदि कर्मफल मिलते समय तुमको दुख मिल रहा है तब रोना पीटना बन्द करदो—क्योंकि ऐसा करनेसे दुखमें कुछ कमी होगी नहीं किन्तु जनता तुम्हारी कायरताका उपहास करेगी, न घबडा कर कोई कुकार्य (खोटा काम) करनेकी चेष्टा करो क्योंकि ऐसा करने पर तुम अपने लिये और नुकीले कांटे बोओगे, न किसीको दोषी बनाकर उसको मारने पीटने, गाली गलौज देनेका उसका बिगाड करनेका प्रयत्न करो क्योंकि दुर्भाग्य तो तुमने अपने बुरे कार्योंसे स्वयं बनाया था तुम्हारा दुर्भाग्य बनानेके लिये कोई और नहीं आया था यदि तुम अपने

लिये दुखके बीज न बोते तो कोई भी तुम्हारा बाल बांका न कर सकता था इसलिये किसीको कुछ दोष न दो।

पछतानेकी भी आवश्यकता नहीं, दुर्भाग्य तो बन गया सो बन गया पछतानेसे वह बदल नहीं सकता इसलिये जो हो गया सो हो गया उसके लिये संताप करनेसे कुछ लाभ नहीं।

उस समय तो स्थिर होकर धैर्यसे काम लो, साहस करके विपत्तिसे युद्ध करो, हँस कर विपत्तियोंको वीरतासे झेलो। घबडाओ मत, विपत्ति सदा नहीं बनी रहेगी, कभी न कभी तो समाप्त होगी ही। अपना नैतिक पतन मत होने दो क्योंकि नीतिसे यदि एक बार गिर गये तो फिर उठना कठिन हो जायगा, विपत्ति सदा न रहेगी तुम्हारी नीति अनीति सदा रही आवेगी। विपत्तियां तथा दुर्भाग्यकी छाया जीवनमें कभी न कभी प्रायः सब किसीके ऊपर आती है, इस कारण घबडाते क्यों हो?

प्रति समय चलते, फिरते, उठते बैठते, सोते जागते मनमें णमोकार मन्त्र पढते जाओ, अच्छे कार्य करते जाओ, बुरे काममें पैर न रक्खो, अपने आपको सँभालो, अपने परिवारको सँभालो, धर्म-साधनमें रंचमात्र भी ढील न होने दो। तुम यदि दृढतासे मन लगाकर धर्म ध्यान करोगे तो आगामी समयमें तो तुमको उसका अच्छा पारितोपिक मिलेगा ही बल्कि तुम्हारा वर्तमान वायुमंडल भी दुखदायक न रहेगा। अतः विपत्ति के समय शान्ति, धैर्य और साहसका परिचय देकर अपने कर्तव्य से जरा भी च्युत न होना (डिगना) चाहिये।

सारांश

सारांश यह है धन-उपार्जनमें अपने उद्योगके सिवाय अपना भाग्य भी सहायक कारण होता है किन्तु भाग्य पर विश्वास रखकर उद्योग न छोड़ देना चाहिये, उद्योग सदा करते रहना चाहिये। विना उद्योग किये भाग्य भी धन, भोजन नहीं देता। भूख मिटानेके लिये तो हाथ मुख चलाना ही होगा, भाग्यसे भूख प्यास दूर न होगी, न धन सम्पत्ति अपने आप तुम्हारी तिजोडीमें आ जायगी।

त्याज्य व्यापार

जहां तक हो सके ऐसे व्यापार उद्योग धन्धे करने चाहिये कि जिनसे आरम्भ कम हो जिससे अहिंसाका अधिकाधिक पालन हो सके। अतः भट्टी, भट्टे आदिके व्यापारसे यथासंभव दूर रहना चाहिये।

जो पदार्थ धर्मघातक, जनताके अहितकारक हैं उन पदार्थोंका व्यापार तो कदापि न करना चाहिये। तदनुसार मद्य (शराब) भांग, चरस, गांजा, तमाखू बेचनेका व्यापार अनुचित है। लाख बनाने, नील बनाने आदि बहु जीव घातक उद्योग भी न करने चाहिये।

जिन पदार्थोंके बेचनेसे अपने देशको हानि पहुंचती हो उन पदार्थोंका व्यापार कदापि न करना चाहिये, चाहे उसमें लाभ अधिक ही क्यों न हो।

पशुबध करने वाले, जुआ खेलने वाले, स्त्रियां बेचने वाले मद्य पीने वाले तथा अन्य अनर्थ अधर्म करने वालोंको सूदके लोभसे ऋण न देवे।

अयोग्य वर-कन्याका सम्बन्ध (वृद्ध, नपुंसक, कोढी पुरुष का किसी कन्यासे अथवा राजरोग ग्रस्त कन्याका अथवा अन्य अयोग्यता सम्पन्न किसी लडकीका किसी योग्य वरके साथ) करानेमें दलाली करने, वर-कन्या बेचने, दासी दास बेचने आदिका व्यापार भी मनुष्योचित कार्य नहीं ऐसा समझकर उन कामोंको न करना चाहिये।

इसके सिवाय अन्य भी कोई ऐसा धंधा न करना चाहिये जिससे अपना, अपने वंशका, अपने समाज-जातिका, अपने देशका अपयश हो अथवा उनको हानि पहुँचती हो, धर्मका घात होता हो, पाप फैलता हो।

धनका उपयोग

धनका संचय करना यद्यपि एक कठिन समस्या है किन्तु शुभकर्म फलित होने पर धन संचय एक सरल बात हो जाती है। अशिक्षित, कम समझ व्यक्ति भी सौभाग्यके समय बिना परिश्रमके, या थोड़े परिश्रमके साथ धनिक बन जाते हैं किन्तु संचित किये हुए धनको ठीक

उपयोग करना संचय करनेकी अपेक्षा एक कठिन काम है, धनका उपयोग करते समय बुद्धिकी परीक्षा होती है। अनेक मनुष्य दुर्व्यसनों-मद्यपान, वेश्यागमन आदि में धनको नष्ट कर डालते हैं। अनेक व्यक्ति सीमासे अधिक कृपण (कंजूस) बनकर उस धनसे कुछ लाभ नहीं उठा पाते और कुछ व्यक्ति व्यर्थ व्ययमें धन नष्टकर देते हैं।

धनका सदुपयोग करनेके लिये निम्नलिखित बातों पर ध्यान रखना चाहिये।

१—संचित किये हुए धनमें से कुछ अंश (कम से कम दशवां भाग) तो धर्मादे (धर्मकार्य में खर्च करने) के लिये अलग जमा करना चाहिये। इस अंशमें से दीन दुखी दरिद्रोंकी सहायता की जा सकती है, धर्म प्रचार, समाज-उन्नति, देशसेवा, लोक उपकार, मन्दिर, तीर्थक्षेत्र अनाथालय, सार्वजनिक विद्यालय, औषधालय, विधवाश्रम आदि संस्थाओंको सहायता दी जा सकती है, तीर्थयात्रा की जा सकती है।

धन संचय करना एक लौकिक कमाई है जिसमें कुछ न कुछ पाप अंश लगता है किन्तु धर्मादे में अपना द्रव्य लगाना सच्ची हित-कारिणी कमाई है। इस जन्ममें कीर्ति (नामवरी) और परभवमें सुख सम्पत्ति इसी धर्मादेमें अपने द्रव्यको लगाने से प्राप्त होती है।

२—कुछ अंश विपत्तिके समय, वेकारी के समय बीमारी के समय किसी आकस्मिक (अचानक होने वाले) खर्चके समय काम आने के लिये अलग निकाल कर जमा रखना चाहिये।

३—कुछ अंश अपने व्यापार कारोबारमें लगानेके लिये रखना चाहिये जिससे व्यापारमें शीथिलता न आने पावे। क्योंकि रकम कम होने से व्यापारमें ढील पड़ जाती है। पैसा पैसेको खींचता है। अतः व्यापारीका कर्तव्य है कि वह व्यापार बढानेके लिये उपार्जित धनमें से कुछ अंश व्यापारमें भी लगाता रहे।

४—शेष अंश अपने घर गृहस्थीके कार्योंमें खर्च करना चाहिये।

गृहस्थाश्रमके खर्चोंके समय निम्नलिखित बातो पर ध्यान रखना आवश्यक है—

१—अपने लिये तथा घरके अन्य प्राणियोंके लिये सात्त्विक पौष्टिक भोजनकी व्यवस्था हो।

२—बच्चोंको दूध पीनेके लिये अवश्य मिलना रहे क्योंकि बचपन में स्वास्थ्य, शारीरिक दृढता अच्छी रहने पर जीवन भर शरीर स्वस्थ बना रहता है। यदि बाल्य अवस्थामें शरीर निर्बल बना रहा तो वह जन्म भर निर्बल बना रहेगा।

सात वर्ष तक बच्चोंके स्वास्थ्यका अधिक ध्यान रखना चाहिये तब तक उन्हें पढने के लिये उत्साहित न करना चाहिये।

३—पहननेके वस्त्रोंकी ठीक व्यवस्था हो। वस्त्र साफ सुथरे सादा होने चाहिये। चटकीले भडकीले वस्त्रोंसे स्वास्थ्यको हानि पहुंचती है और विलासिता (शौकीनी) का रोग बढता है। अन्दरका वस्त्र (बनियान) अवश्य साफ धुला हुआ होना चाहिये। अधोवस्त्रोंमें भी अन्दरका वस्त्र (जांघिया, लंगोट, निकर, कांछ आदि) अवश्य साफ सुथरा होना चाहिये।

४—घरके लिये उचित खाद्य सामग्री (अन्न, दाल, घी आदि) कुछ न कुछ परिमाणमें अवश्य संचित रहे।

५—बाल बच्चोंको सुयोग्य बनानेके लिये उनके समुचित शिक्षाकी व्यवस्था करना। लडकोंकी तरह लडकियोंकी शिक्षा का भी ध्यान रखना चाहिये जिससे वह भविष्यमें गृहस्थाश्रम का भार आने पर पत्र व्यवहार, शास्त्र स्वाध्याय, घरका हिसाब, बच्चोंकी शिक्षाका कार्य कर सकें।

६—पुत्र पुत्रियोंके विवाह सम्बन्धके लिये भी रुपये पैसे का प्रबन्ध रखना चाहिये। विवाहके खर्चोंमें आवश्यक खर्चोंके सिवाय अनावश्यक खर्च एक दम हटा देने चाहिये। कम से कम खर्च करनेकी व्यवस्था रखनी चाहिये।

७—अन्य साधारण खर्चोंके लिये यथाउचित रुपया पैसा लगाना उचित है।

इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि धन-संचयमें भारी परिश्रम

करना पड़ता है इस कारण उसको क्षणभरकी प्रशंसा पानेकी धुनमें न तो व्यर्थ (जिससे अपना, अपने परिवार, समाज तथा देशका कुछ हित न हो) खर्च करना चाहिये जैसा कि लोग प्रायः विवाह आदिके समय कर डालते हैं। और न इतनी अधिक कृपणता (कंजूसी) दिखलाने की ही आवश्यकता है कि अपने, अपने बाल बच्चों के परिवारके अन्य प्राणियोंके खाने पीनेमें कमी की जावे, सामर्थ्य होते हुए भी घी, दूध मेवा आदि पदार्थोंका उपयोग न किया जाय। बच्चोंके पढाने लिखानेमें आवश्यक खर्च न किया जावे, पहनने ओढनेके वस्त्र फटे पुराने, मैले कुचैले रहें। नौकर, मेहतर धोबी आदिकी देने योग्य रकम में काट छांट की जावे, जाति समाजमें अपने योग्य खर्चोंको रोका जाय।

सारांश यह है कि आवश्यक खर्चे अवश्य करने चाहिये अनावश्यक न करने चाहिये। मितव्ययी (किफायत से खर्च करने वाला) बनना चाहिये।

राज-कर्तव्य

अनेक प्रकारके करों (टैक्सों) तथा दण्डों (जुर्मानों) से जो रकम राजकोष (राज खजाने) में एकत्र होती है वह सब सम्पत्ति प्रजा या जनताकी होती है अतः राजा (प्रजातंत्र शासन में राष्ट्रपति) उस धनको निम्नलिखित रूपसे जनताके लिये खर्च करे।

१—कुछ अंश ध्रुव कोष (रिजर्व फंड) में रक्खे जो कि आकस्मिक आवश्यकताके समय काम आसके।

२—जनताके प्राणों तथा सम्पत्तिकी रक्षाके लिये व्यवस्था करनेमें खर्च करे।

३—अशक्त, अपाहिज, अनाथ स्त्री पुरुष बच्चोंका रक्षण करे।

४—स्वास्थ्य, शिक्षा प्रचारका समुचित प्रबन्ध करे।

५—यात आयात (आने जाने) के साधनों (सडकों, रेलपथ, वायु-पथ, समुद्री मार्गका तथा रेलगाडी, वायुयान, जल नौका, जहाज, मोटर गाडी आदि) की उचित व्यवस्था करे।

६—जिन साधनोंसे देशकी सम्पत्ति, व्यापार बढ़े, देशकी सम्पत्ति

बाहर न जावें उन साधनों की व्यवस्था करे।

७—पर राष्ट्रके आक्रमणसे सदा देशको सुरक्षित रक्खे।

सारांश यह है कि जनतासे लिया गया धन जनताके हितमें ही खर्च किया जावे।

आत्माके लिये साधक-बाधक

धन सम्पत्ति भौतिक पदार्थ है वह चाहे सोने चांदीके रूपमें हो या रत्न, जमीन, पशु, अन्न, वस्त्र, मकान आदिके रूपमें हो आत्मासे भिन्न पदार्थ है, इस कारण सम्पत्तिका समागम आत्माका कुछ कल्याण नहीं कर सकता, धन मिल जाने पर आत्मामें सुख, शान्ति, धैर्य सन्तोष ज्ञान, बल आदि आत्मगुण उन्नत होते हों ऐसा कोई नियम नहीं है और न धन चले जाने पर वास्तवमें आत्माकी कोई हानि होती है। आत्मा जब किसी मनुष्य आदिके शरीरमें आता है तब धन सम्पत्ति उसके साथ नहीं आती और परभव जाते समय वह साथ नहीं जाती, सब कुछ यहां का यहीं रहता है। पुण्य कर्म उदय होने पर कुछ दिनके लिये किसीके पास धन जा पहुँचता है और पाप-उदय होने पर उससे छूट जाता है।

किन्तु सांसारिक जीवनमें आत्मासे भिन्न जड पदार्थ रूप इस धन से भी जीवन सम्बन्धी अनेक कार्य हो जाते हैं इस कारण धन सम्पत्ति आने पर यह ध्यान रखना चाहिये कि—

'पहले समयमें दया दान उपकार सेवा आदि शुभ कार्योंके पारितोषिक (इनाम) में यह धन मिला है इसको पाकर अभिमान न करूँ बुरे कामों में खर्च न करूं और न किसीको कष्ट दूँ किन्तु फिर इसको दान उपकार में लगाऊँ जिससे मेरा भण्डार सदा भरा रहे।'

यदि अपना धन चोरी, डाके, घाटे, अग्नि आदिसे नष्ट हो जावे तो शोक न करे ऐसा विचार करके धैर्य रक्खे कि—

'मैंने पहले किसी का धन चोरी, डकैती, धोखाधड़ी आदि रूपसे छीना झपटा या नष्ट किया होगा उसीका दण्ड मुझे यह मिला है। कुछ चिन्ता नहीं अब मुझे वैसे बुरे काम न करने चाहिये। उद्योगसे

लक्ष्मी प्राप्त होती है इसलिये साहस, उत्साह से उद्योग करूँ, मैं नष्ट हुई सम्पत्तिको पालूंगा। जब तक धन नहीं आता तब तक सन्तोष और धैर्य रक्खूं, अपना नैतिक पतन (इखलाकी गिरावट) न होने दूं क्योंकि यदि मैं नीतिसे (अपने सदाचारसे) एक बारभी गिर गया तो फिर न उठ सकूंगा, रुपया पैसा तो फिर भी मिल जायगा, धन नष्ट हो जाने से मेरा पराक्रम, बल, साहस, उद्यम धर्म, ज्ञान शुभ आचार, विवेक रूप आत्म सम्पत्ति तो नष्ट नहीं हुई मेरी वास्तविक हानि (असली नुकसान) तो इन गुणोंके नष्ट होनेसे होती।'

सतियां सत न छांडितू, सत जाये सब जाय।
सतकी बिछुडी लक्ष्मी, फेर मिलेगी आय ॥

यानी-हे नीतिमान सदाचारी धर्मात्मा पुरुष ! तू अपनी नीति सचाई मत छोड सचाईसे एकत्र की हुई सम्पत्ति यदि चली गई है तो घबडा मत, निश्चय रख वह तुझे फिर आकर मिल जायगी।

इस प्रकार धन सम्पत्तिका यथार्थ स्वरूप समझ कर धन संचयके लिये पाप, अन्याय न करे और धन मिल जाने पर अभिमान न करे, धर्म दान करे तथा धनहानि हो जाने पर शोक-चिन्ता घबराहट न करे।

काम-पुरुषार्थ

स्पर्शन (त्वचा) जिह्वा, नाक, आंख, और कान इन पांचों इन्द्रियोंके योग्य पदार्थोंको भोगना 'काम पुरुषार्थ' है।

धर्म पुरुषार्थ अर्थ पुरुषार्थ (धन समागम) में कारण है यानी धर्म करनेसे शुभकर्म बनता है और शुभ कर्म के फल से धन सम्पत्ति मिलती है। अर्थ पुरुषार्थ से काम पुरुषार्थ (विषय भोग्योंका भोग) होता है। उक्त पांचों इन्द्रियों में से स्पर्शन इन्द्रिय के विषय सेवन (मैथुन क्रिया) को मुख्य रूपसे कामसेवन कहते है काम सेवन स्त्री तथा पुरुषके मिथुन (जोडे) से होता है अतः इस विषय भोग का दूसरा नाम 'मैथुन भी' है। अन्य इन्द्रियों की विषय वासना की अपेक्षा मैथुन की विषय वासना बहुत प्रबल होती है। नेत्र आदि इन्द्रियों को सुन्दर, प्रिय पदार्थों के

देखने आदि द्वारा तृप्त करते समय मनुष्य अपने विवेक (सूझ बूझ, होश, कर्तव्य अकर्तव्य का विचार) को स्थिर रख सकता है किन्तु कामवासना का भूत जिस समय शिर पर सवार होता है उस समय मनुष्यकी बुद्धि यथा स्थान नहीं रहती विवेक कुण्ठित हो जाता है। इसीलिए उस समय कामातुर व्यक्ति ऐसे अनर्थ भी कभी कभी कर बैठता है जिनका परिणाम बहुत भयंकर होता है।

संसार में कलह के प्रायः तीन कारण होते हैं—१ धन, २ स्त्री, और पृथ्वी (जर जमीन जोरू) इनमेंसे स्त्री के लिए जो कलह होती है उसमें मूल कारण ये काम वासना ही है। राम रावण कौरव पांडव आदिके महा युद्ध इसी कामवासना के साधनभूत स्त्री (सीता, द्रौपदी) के अपमान के कारण हुए। सांसारिक लडाई झगडों में प्रायः आधे झगडे इसी कामवासना के कारण हुआ करते हैं।

शंका

फिर ऐसे कलहकारी निंदनीय कार्य को पुरुष के लिए कर्तव्य (पुरुषार्थ) क्यों बतलाया?

समाधान

प्रायः प्रत्येक कार्य के दो तट (पहलू) होते हैं—अच्छा और बुरा। तदनुसार काममेवनका दूसरा अच्छा भी रूप है जिसके कारण कामसेवन को पुरुषार्थ भी बतलाया गया है वह रूप है—'सन्तान उत्पत्ति'।

वंश परम्परा चलानेके लिए तथा धर्म परम्परा चालू रखनेके लिए आदर्श सन्तान उत्पन्न होना आवश्यक है वह पुत्र पुत्री रूप संतान काम पुरुषार्थ के द्वारा ही उत्पन्न होती है। भगवान ऋषभनाथ आदि तीर्थंकर, श्रीकुन्दकुन्दाचार्य जैसे महर्षी, बाहुबली, राम, भीम आदि बलवान व्यक्ति कामपुरुषार्थ के फलस्वरूप ही प्रगट हुए जिन्होंने जगत उद्धार किया, धर्म प्रचार कीया तथा नीति मर्यादा को स्थिर रक्खा। अतः अनेक दृष्टियों से कामपुरुषार्थ आवश्यक ही नही अपितु परम आवश्यक है।

वैध-सन्तान

नरनारी की मैथुन क्रिया के फलस्वरूप नारी के गर्भ से सन्तान उत्पन्न हुआ करती है यह एक प्राकृतिक नियम है उसी नियम के अनुसार पशु पक्षी भी बच्चे उत्पन्न करते हैं। अतः सन्तान केवल उत्पन्न करना कोई महत्व पूर्ण कार्य नहीं। पशुओंके समान जीवन व्यतीत करनेवाली, स्व पर कल्याणकारी कार्य न करनेवाली गुणी सन्तानसे जाति समाज-देश का कुछ भी लाभ नहीं। देश जातिका उद्धार करनेवाले गुणी पुत्र पुत्री उत्पन्न करने के लिए कामसेवन के कुछ नियम हैं जिनका आचरण करना आवश्यक है।

उनमें से प्रथम नियम वैध (न्याय-समाज मान्य) सन्तान उत्पन्न करना है। विवाह संस्कार द्वारा जो एकही रज वीर्य से सन्तान उत्पन्न होती है वह संतान वैध सन्तान होती है। विवाह नियम के बाहर यथेच्छ कामसेवन (कुमारी, विधवा व्यभिचारिणी वेश्या आदि के साथ मैथुन) से उत्पन्न हुई सन्तान अवैध है।

वैध सन्तान उत्पन्न करने में पुरुष स्त्री के विचार किसी विशेष उद्देश को लेकर नियमित संयत होते हैं अच्छी सन्तान पैदा करने की भावना होती है जब कि अवैध सन्तान के लिए केवल विषय वासनाकी प्रधानता रहती है, योग्य अयोग्य उचित अनुचित का कुछ विवेक नहीं होता सन्तान उत्पन्न करने की भावना भी नही होती और न उन नर नारीयों के कोई नैतिक विचार ही होते हैं।

विवाह

सच्चरित्र, तेजस्वी संतान उत्पन्न करने के लिए विवाह संस्कार होना परमावश्यक है।

शुद्ध कुल जाति के वर कन्याका विधिपूर्वक पाणिग्रहण (पति पत्नी के रूपमें होना) 'विवाह' है।

शुद्ध कुल के वर तथा कन्या का होना शुद्ध गुणी संतान उत्पन्न करने के लिए आवश्यक है। उसका कारण यह है कि जिसप्रकार अच्छी पृथ्वीपर बोए गए अच्छे बीज से अच्छा फलदार वृक्ष उत्पन्न होता है

उसीप्रकार कुलीन स्त्री पुरुष के संयोग से गुणवान बच्चे का जन्म होता है। स्त्री का गर्भाशय पृथ्वी के समान है, पुरुष का वीर्य बीजके समान है। जगत प्रसिद्ध महान पुरुषों का जन्म इसीप्रकार शुद्ध कुलीन माता पिताओं से हुआ है।

विवाह का समय

पुरुष के शरीरमें उत्तम धातु वीर्य है, वीर्य शरीरका राजा है, जिस प्रकार राजा निर्बल होने से प्रजा दुखी होती है उसी तरह वीर्य निर्बल होनेसे शरीर में निर्बलता के कारण अनेक व्याधियां उत्पन्न होती रहती हैं पुरुष का वीर्य १८ वर्ष की आयु में पकता है अतः १८ वर्ष से पहले पुरुष का विवाह न होना चाहिये बल्कि २५ वर्ष की आयु में हो तो और भी अच्छा है।

स्त्रीके शरीरकी धातुएं १४ वर्षकी आयुमें पकती हैं अतः लडकीका विवाह १४ वर्षसे पहले न होना चाहिये। यदि १६ वर्षकी आयुमें हो तो और भी अच्छा। यदि लडकीका सदाचार सुरक्षित रह सके (क्यों कि १६ वर्षमें लडकी युवती हो जाती है, उसमें प्रायः कामवासनाका प्रादुर्भाव हो जाता है अतः उस समय उसका सदाचार सुरक्षित रहना अपेक्षित है) तो इससे भी अधिक २-४ वर्ष और विवाहके लिये रोका जा सकता है किन्तु इससे अधिक समय तक लडकीको विवाहके लिये रोकना उचित नहीं।

विवाह का लाभ

गृहस्थाश्रमकी गाडी चलानेके लिये स्त्री तथा पुरुष दोनों आवश्यक हैं, स्त्रीको सम्हालने लिये उसका जीवन सहचर पुरुष होना चाहिये और पुरुषको सम्हालके लिये जीवन सहचरी स्त्री अवश्य होनी चाहिये। स्त्री तथा पुरुषका अकेले रूपमें रहना दोनोंके लिये हानिकारक है तथा सन्तानके लिये सर्वथा अनुपयोगी है।

इसके सिवाय कामवासनाकी तृप्ति दूसरी श्रेणीका प्रयोजन है उसके लिये भी विवाह द्वारा नियत स्त्री पुरुषका पति पत्नीके रूपमें होना अति हितकारक है। विवाह बन्धनके बिना यथेच्छ कामक्रीडा स्त्री

तथा पुरुष, समाज और सन्तान सबके लिये हानिकारक है। अतः स्त्री तथा पुरुषके जीवनको ठीक सन्तुलनमें रखनेके लिये विवाह होना सब तरह श्रेष्ठ है।

आदर्श विवाह

शुद्ध कुल जातिमें उत्पन्न हुआ लडका जिस समय अपनी शिक्षा समाप्त कर ले, अपने परिवारके सन्मान पूर्वक जीवन निर्वाहकी योग्यता प्राप्त कर ले, जिसका शरीर स्वस्थ, बलवान हो, हिंसा, धोखा, विश्वासघात, चोरी, व्यभिचार आदि दुर्गुणोंसे तथा मद्य, मांस, भंग पीनेसे एवं दुर्जन, निकम्मे, गुंडे पुरुषोंकी संगतिसे जो दूर रहता हो, हित मित प्रिय-भाषी, उद्यमशील, सभ्य हो ऐसा युवक विवाहके लिये सुयोग्य वर है।

शुद्ध जाति कुलमें उत्पन्न हुई, पढी लिखी, गृहकार्य—(घरकी सफाई, रसोई, सीना पिरोना, वस्त्रों का रंगना, धोना, घरकी वस्तुओं को ठीक व्यवस्थित रखना) में चतुर, सभ्य, मधुर भाषिणी, सुशील, चोरी आदि दुर्गुणोंसे दूर, शारीरिक शृंगारमें प्रवीण, अतिथि सत्कारमें दक्ष, सन्तोषी, निरालसी, फुर्तीसे काम करने वाली, संकेतसे समझने वाली स्वस्थ, सुन्दरी, विनय तथा लज्जाकी मूर्ति यौवनमें प्रवेश करने वाली लडकी विवाहके लिये सुयोग्य कन्या है।

वरकी आयु, कद कन्यासे कुछ अधिक होना चाहिये। कन्याकी आयुसे वर ४–५ वर्ष बडा हो तो बहुत अच्छा, किन्तु प्रायः दस वर्षसे अधिक बडा न होना चाहिये।

योग्य वर कन्याका चुनाव करके शुभमुहूर्तमें देव, गुरु, अग्नि (हवन) तथा पंचोंके समक्ष विवाह कर देना चाहिये। कन्याके संरक्षक उस समय अपनी शक्तिके अनुसार जो कुछ वस्त्र, आशीर्वाद आदि दे सकें, वर कन्याको दे दें।

कन्याके उपलक्षमें वर के पितासे कुछ रकम लेना या वरके उपलक्षमें ठहराकर या विवश (लाचार) करके कन्याके पितासे रकम लेना बहुत अनुचित है ऐसा लेना देना समाजका घातक है। विवाह बहुत सादगी

और अल्प व्ययके साथ होना चाहिये, जो रीतियां व्यर्थ हों, व्यय कराने वाली हों उन्हें हटा देना चाहिये।

काम-विज्ञान

विवाह करने वाले युवकको काम-विज्ञानकी अच्छी पुस्तकों (काम-शास्त्र, स्त्री और पुरुष, सन्तान कल्पद्रुम, विवाहित आनन्द आदि ग्रन्थों) को अवश्य पढ लेना चाहिये क्योंकि 'काम' भी एक कला है जो कि गृहस्थाश्रमका मूल है, उसका आवश्यक परिज्ञान हुए बिना विवाहका प्रयोजन सुयोग्य रूपसे सिद्ध नहीं हो सकता।

रतिक्रीडामें स्त्री तथा पुरुषका सन्तुष्ट हो जाना काम सेवनकी जानकारीका मधुर फल है, जो व्यक्ति इस बातसे अनभिज्ञ रहते हैं उनका गृहस्थाश्रम दुखमय हो जाता है बलहीन व्यक्ति भी कामविज्ञान के कारण रतिक्रीड़ा में अपनी पत्नीको सन्तुष्ट कर सकता है तथा सुयोग्य सन्तान उत्पन्न कर सकता है। जो व्यक्ति इसका आवश्यक ज्ञान नहीं रखते वे प्रायः अपनी पत्नीको सन्तुष्ट न कर सकनेके कारण उसका तथा अपना जीवन दुखमय बना देते हैं, ऐसे पुरुषोंकी पत्नियोंको उन्माद (हिस्टीरिया) हो जाया करता है तथा वे उपदंश (गर्मी-आतशक) सुजाक आदि रोगोंके भी शिकार हो जाते हैं।

कामकलासे अनभिज्ञ पुरुष कभी कभी राजयक्ष्मा (तपेदिक-टी.बी.) रोगसे ग्रस्त या तो आप हो जाते हैं या उनकी पत्नी।

इस विषय पर अधिक प्रकाश न डाल कर यहां पर इतना कह देना पर्याप्त है कि विवाह करनेसे महीने दो महीने पहले विवाह करने वाले युवकको कामक्रीडाका आवश्यक ज्ञान कामविज्ञानकी पुस्तकोंसे अवश्य प्राप्त कर लेना चाहिये।

पति-पत्नी

वर अपनी विवाहित स्त्रीका स्वामी होता है अतः उसको 'पति' कहते हैं। पति, पत्नी शब्दोंका एक ही अर्थ है, केवल लिंग भेद है, अतः जिस तरह पुरुष अपनी स्त्रीके शरीरका स्वामी होता है अतएव उसका प्रधान कर्तव्य होता है कि वह अपनी स्त्रीके शरीरको तथा उसके आत्मा

को स्वस्थ, प्रसन्न रक्खे उसको रोगी, अप्रसन्न, दुखी न होने देवे।

इसी तरह स्त्री अपने विवाहित वरके शरीरकी स्वामिनी है अतः उसका कर्तव्य है कि वह अपने पुरुषके शरीर तथा आत्माको स्वस्थ, प्रसन्न रक्खे, उसको दुखी न होने देवे।

सारांश यह है कि पति पत्नीको एक दूसरे को अच्छी तरह समझ कर परस्पर अटूट प्रेमसे रहना चाहिये अपने हृदयकी बातें परस्परमें न छिपानी चाहिये तथा निम्नलिखित बातों पर ध्यान रखना चाहिये-

१—ब्रह्मचर्य अणुव्रतसे रहें। पुरुष पत्नी व्रतका और स्त्री पतिव्रत का पूर्ण पालन करे।

२—परस्परमें एक दूसरेका विश्वास रक्खें। दो शरीर किन्तु एक हृदय होकर रहें।

३—अपनी आयके अनुसार खर्च करें।

४—सुख दुखमें एक दूसरेका पूरा साथ दें।

५—कोई ऐसा कार्य न करें जो एक दूसरेको बुरा लगता हो।

६—पुरुष अपनी पत्नीके सरल, निश्छल, मधुर, प्रेमसे अपनी स्त्रीके वशमें रहता है।

७—स्त्री अपने पतिके कोमल, सत्य, मीठे व्यवहार तथा हार्दिक प्रेमके कारण अपने पतिके अनुकूल रहती है।

८—सुन्दर वस्त्र, आभूषण देनेसे भी स्त्रियोंका चित्त प्रसन्न रहता है किन्तु रहस्यकी बात यह है कि स्त्री सबसे अधिक सन्तुष्ट और प्रसन्न पूर्ण रतिक्रिया तथा निश्छल प्रेमसे रहती है। कामसूत्रमें लिखा है कि 'स्त्रियोहि यूनि रंज्यन्ते न रयि' यानी—स्त्रियां धन सम्पत्तिसे प्रसन्न नहीं हुआ करतीं वे तो अपने हार्दिक प्रेम रखने वाले स्वस्थ बलिष्ट युवक पतिसे ही प्रसन्न होती हैं।

९—स्त्रीको अपने पतिके तथा पतिको अपनी पत्नीके साधारण अपराध क्षमा कर देने चाहिये।

१०—स्त्री घरके भीतर (घरकी सुव्यवस्था रखनेकी) स्वामिनी है पुरुष घरके बाहरी क्षेत्रका (व्यापार अर्थ-उपार्जन आदिका) स्वामी होता है

११—घरकी कोई भी गुप्त बात बाहर किसीको न कहनी चाहिये।

१२—घरमें यदि किसी बात पर विवाद (झगडा) हो जावे तो घरमें न्यायालय (कोर्ट अदालत) बनाकर स्वयं ही निर्णय (फैसला) कर लेना चाहिये।

१३—घरका अपयश (बदनामी) बाहर न फैलने पावे इसका विचार दोनोंको रखना चाहिये।

सन्तान-उत्पादन

विवाहका सबसे बडा उद्देश सुयोग्य सन्तान उत्पन्न करना है इसीके लिये गर्भाधान आदि संस्कार बतलाये गए हैं। इस कार्यको सम्पन्न करनेके लिये सावधानी रखनी चाहिये क्योंकि बच्चे तो कुत्ते, बिल्ली चूहे भी पैदा कर लेते हैं इसमें कोई बडी बात नहीं किन्तु देश, जाति, धर्म, कुलके लिये उपयोगी, गुणी, बुद्धिमान, बलवान सन्तान उत्पन्न करना जरा कठिन है। इसी कठिन कार्यको सुन्दरताके साथ कर दिखाना काम पुरुषार्थका प्रधान लक्ष्य है।

इसके लिये निम्नलिखित बातों पर ध्यान रखना चाहिये—

१—पति पत्नी दोनोंके हृदयमें यह भावना आनी चाहिये कि हमको सुयोग्य सन्तान उत्पन्न करनी है, इसी उद्देशसे स्त्री मासिक धर्म (रजस्वला) के बाद स्नान करके सबसे पहले अपने पतिका अवलोकन (दर्शन) करे फिर दोनों २-४-६-८ जितने भी अधिक दिन तक ब्रह्मचर्य से रह सकें, रहें। इन दिनोंमें स्त्रीका शरीर अधिक शुद्ध होता जाता है अतः रजस्वला होनेके बाद १४ वीं या १६ वीं रात्रिको गर्भाधान होने पर सन्तान बहुत गुणी, तेजस्वी, बुद्धिमान होती है, चौथी रातके गर्भाधानकी सन्तान दुर्गुणी होती है। अतः १६ वीं रात्रियोंमें अधिक से अधिक जितनी रात्रियां छोडी जा सकें उतना ही अच्छा है। गर्भाधानके समय पति पत्नीको प्रसन्नचित्त, शुभ भावों सहित, अभिमन्यु, अकलंक आदि प्रसिद्ध पुरुषों जैसी सन्तान करनेकी भावना रखनी चाहिये।

२—गर्भाधान हो जाने पर स्त्रीको अच्छे, अच्छे धर्म ग्रन्थ पढने चाहियें, प्रसिद्ध वीर, यशस्वी, गुणवान पुरुषोंकी कथाएं पढनी चाहियें और

प्रत्येक क्षण वैसी ही सन्तान प्रसव करनेका विचार रखना चाहिये।

३—अपने कमरेमें वीर, विद्वान, गुणी, सुन्दर प्रसिद्ध यशस्वी पुरुषों के चित्र लगाने चाहिये और उनको प्रति दिन देखते रहना चाहिये।

४—गर्भाधानके बाद पति पत्नीको ब्रह्मचर्यसे रहना चाहिये।

५—स्त्रीको बाग बगीचा, नदी, के सुहावने स्थानों पर घुमाना चाहिये अच्छे शिक्षाप्रद खेल दिखाने चाहिये।

६—उन दिनोंमें स्त्रीको रोना, शोक चिन्ता करना, लडना, झूठ बोलना, चोरी करना, कठोर कर्कश वचन बोलना आदिसे सर्वथा दूर रहना चाहिये।

७—पतिका कर्तव्य है कि वह गर्भाधानके दिनोंमें अपनी पत्नीको स्वस्थ, प्रसन्न रक्खे, उसे कोई कष्ट न होने दे, जो पदार्थ खानेकी पत्नी को इच्छा हो वह पदार्थ लाकर दे देवे।

सारांश यह है कि गर्भाधानके दिनोंमें स्त्री जैसा कुछ करेगी उसका प्रभाव उसके गर्भमें आई हुई सन्तान पर ज्योंका त्यों पड़ेगा अतः स्त्री को उन दिनोंमें बहुत सावधानीसे रहनेकी आवश्यकता है। उसको पागल, कुरूप, कोढी, दुराचारी पुरुषोंको देखना भी नहीं चाहिये। हलका, सात्विक भोजन करना चाहिये और अपना मन सदा अच्छे विचारोंमें लगाये रहना चाहिये।

सन्तान प्रसवके पीछे कम से कम ५-६ मास तक ब्रह्मचर्यसे अवश्य रहना चाहिये।

सन्तान प्रसव के पीछे कमसे कम ५-६ मास तक ब्रह्मचर्य से अवश्य रहना चाहिये।

सन्तानका पालन पोषण

उत्पन्न हुए बच्चेका पालन पोषण भी बहुत सावधानीसे करना आवश्यक है। बच्चेको कमसे एक वर्ष तक तो अपना दूध अवश्य पिलाना चाहिये, उसके शरीरकी तेलसे मालिश करते रहना आंखोंमें काजल देना तथा कानमें तेल डालते रहना चाहिये, ऋतु अनुसार गर्म या ठंडे जलसे स्नान कराते रहना चाहिये। माताको सात्विक

हल्का तथा पौष्टिक भोजन करना चाहिये। बच्चेको स्वच्छ बिछौने पर लिटाना और स्वच्छ वस्त्र पहनाना उपयोगी है।

छोटे बच्चोंके सामने कभी पति पत्नीको कामक्रीडा न करनी चाहिये।

सात वर्ष तक बच्चेके स्वास्थ्य पर खूब ध्यान देना चाहिये पढने लिखनेका भार तब तक उस पर न डालना चाहिये। दूध जितना वह पी सके पिलावो। खूब खेलने कूदने, भागने दौडनेको उत्साहित करे। संकेत (इशारे) से तथा प्रेमसे बच्चोंको बुरी बातोंसे बचाते रहना चाहिये।

ठीक समय पर सुला देना और कम से कम घण्टे नींद लेने देना चाहिये। उनको पैसे देकर बाजारके अशुद्ध, स्वास्थ्य बिगाडने वाले पदार्थोंके खाने पीनेकी आदत न डलवानी चाहिये तथा उन्हें सत्य मीठे सभ्य शब्द बोलनेका अभ्यास कराना चाहिये। अच्छे खेल खिलाकर या दिखाकर उनको प्रसन्न रखना लाभदायक है।

सन्तानका शिक्षण

सन्तानको सुयोग्य बनानेके लिये माता पिताका कर्तव्य है कि उनकी शिक्षाका समुचित प्रबन्ध करदें।

शिक्षाएं तीन प्रकारकी दिलानी चाहिये—

१ 'शारीरिक शिक्षा'—दौडना, डंड बैठक करना योगासन करना, कबड्डी, फुटबाल खेलना, लाठी गतका, तलवार चलाना, कसरत करना तैरना, वृक्षपर चढना आदि शारीरिक शिक्षा है। स्वस्थ जीवनके लिये यह बहुत उपयोगी है।

२ 'धार्मिक शिक्षण—शरीर, आत्मा परमात्मा, संसार, मोक्ष, धर्म पाप, कर्म कषाय गतियां जीवजाति, भक्ष्य अभक्ष्य, परमेष्ठी देव शास्त्र गुरु आदिका अच्छा ज्ञान करा देना धार्मिक शिक्षण है। इस शिक्षासे सुविचार और सदाचार का निर्माण होता है।

३ 'लौकिकशिक्षा—अक्षर विद्या, अंकविद्या, देशविदेश पृथ्वी

आकाशका ज्ञान, इतिहास, विज्ञान आदिकी समुचित शिक्षा दिलाना। चित्रकारी मशीन कल पुर्जों का ज्ञान, मोटर, साईकिल वायुयान चलाना गायन आदिका परिज्ञान अभ्यास तथा वही खाते लिखना मौखिक गणित आदि सिखाकर व्यापारिक ज्ञान कराना। वैद्यक डाक्टरी इन्जीनियरी आदि लौकिक शिक्षा है जिस ओर अपने बच्चेकी बुद्धि चलती हो उसके पढानेका प्रबन्ध करा देना चाहिये।

शिक्षासे भी अधिक उसको कुसंगतिसे बचाकर सत्संग पर लगाने का पूर्ण ध्यान रखना चाहिये।

अपने बालक बालिका उद्यमी, साहसी पराक्रमी, धैर्यशील, निरालसी तथा फुर्तीले बनें यह ध्यान रखना चाहिये।

तम्बाखू, बीडी, सिगरेट, भंग, शराब, अण्डे मांस आदि पदार्थों के खान पानसे बचे रहें इस बातको बच्चोंको युक्तिपूर्वक प्रेमसे समझा देना चाहिये।

ब्रह्मचर्य जीवनके लिये क्यों उपयोगी है, दुराचारी लडकोंकी संगति तथा हस्तमैथुन, अनंगमैथुन आदि क्रिया शरीरके लिये कितनी भयानक बीमारी है इस बातको अपने बुद्धिमान बच्चोंको समझा देना चाहिये।

प्रतिदिन मंदिर जाकर देवदर्शन करना, सामायिक स्वाध्याय करना, रातको अन्न भोजन न करना आदि बातोंका अभ्यास बच्चोंको प्रारम्भसे ही डाल देना चाहिये।

सबसे अधिक उनको समयके सदुपयोगकी शिक्षा देनी चाहिये कि 'अपना एक मिनट भी व्यर्थ न जाने दो' उनकी इच्छानुसार उनकी दिनचर्या नियत करदो और उसपर ठीक समयानुसार आचरण करनेका अभ्यास कराओ इसके लिये यदि होसके तो घडीका प्रबन्ध करदो।

स्वास्थ्य

गृहस्थ पुरुषको सबसे अधिक ध्यान अपने स्वास्थ्य पर देना चाहिये। क्यों कि शारीरिक स्वास्थ्यही समस्त धर्म साधन और व्यापार आदि लौकिक कार्यों का मूल कारण है। "शरीरमाद्यं खलु सर्वसाधनम्"। यानी स्वस्थ शरीर ही सब कार्य करनेका मूल कारण है।

शारीरिक स्वास्थ्य के लिए भोजन पान स्वच्छता वायु और व्यायामकी उचित व्यवस्था होनी चाहिये।

भोजनः- दही, घी, गेहूं, चना, चावल, मटर, केला, अंगुर सेव संत्रा आदि अन्न फल मेवा आदि पदार्थ उचित मात्रामें (भूखसे कुछ कम) लेने चाहिये और भोजन को खूब दांतोंसे चबाकर निगलना चाहिये।

पानः- शुद्ध जल दूध छाछ गन्ने का रस नारियल का जल फलोंके रस शर्बत आदि पदार्थ पीने योग्य है इसको घूंटभर भर कर उचित मात्रा में पीना चाहिये।

स्वच्छताः- दांत, मुह, नाक, आंख, कान अधोअंग (टट्टी मूत्र के स्थान) शिर तथा पैर आदि समस्त शरीर के उपांगों को दांतोन, मंजन, अंजन, तेल उबटन साबुन आदिसे स्वच्छ करके प्रतिदिन स्नान करना चाहिये। तथा स्वच्छ वस्त्र पहनना चाहिये भीतरी बनियान लंगोट आदि तो अवश्य ही साफ सुथरे होने चाहिये। सोने के बिस्तर स्वच्छ होनेके सिवाय धूपमें सुखाए जाने चाहिये।

किसी दूसरे व्यक्तिका रुमाल, अंगोछा, तौलिया अपने काम में न लेना चाहिये, न किसी अन्य व्यक्ति के बिस्तर पर सोना चाहिये।

एक थाली में अनेक व्यक्तियोंको भोजन करना, एक ग्लासमें अनेक व्यक्तियों का पानी पीना भी हानि कारक है।

वायुः- अपने रहने के स्थान की वायु दुर्गंधित न होने पावे इसका सदा ध्यान रखना चाहिये। मकान में चारों ओर द्वार खिडकियां होनी चाहिये, मुख ढककर कदापि न सोना चाहिये. सोते समय कोई न कोई खिटकी या प्रकाशद्वार (रोशनदान) खुला रहना चाहिये, खुले मैदानमें बाग आदि में प्रतिदिन कुछ समय तक घूमना चाहिये। घरकी नालियों को पाखानोंको स्वच्छ पानी से धुलाना चाहिये तथा घरमें धूप जलाना चाहिये। कूडा करकट ढककर रखना चाहिये। मकान में खुली धूप आने की व्यवस्था करनी चाहिये।

व्यायामः- शरीर को बलवान बनाने के लिये प्रतिदिन कुछ न कुछ

व्यायाम(कसरत) अवश्य करना चाहिये। स्त्रीयोंके लिए अपने हाथ से आटा पीसना बहुत अच्छा व्यायाम है। पुरुष के लिए डंड बैठक मुदगर डंबल आदि से कसरत करना, कुए से पानी खीचना, दौडना भागना अधिकसे अधिक पैदल चलना आदि अनेक व्यायाम हैं। स्त्री पुरुषों को प्रतिदिन स्वच्छ वायुमें कुछ न कुछ समय तक प्राणायाम अवश्य करना चाहिये।

सदा ध्यान रक्खो 'पहला सुख निरोगी काया'
'एक तन्दुरस्ती हजार न्यामत'।

समय का सदुपयोग

मनुष्य जीवनका एक एक क्षण बहुत अमूल्य है अतः उसको व्यर्थ कदापि न खोना चाहिये। प्रातः काल चारबजे, अधिकसे अधिक ५बजे जागकर उठनेका नियम बना लेना चाहिये तबसे लेकर दिन भरका और सोने तक रातका समय विभाग (टाईम टेबल) बना लेना चाहिये और उस टाईम टेबल के अनुसार नियत समय पर नियत काम करना चाहिये जराभी इधर उधर न होना चाहिये।

ऐसा करने से धर्म, व्यायाम, भोजन. व्यापार विश्राम आदि समस्त कार्य बहुत अच्छी सुविधासे हो जाते हैं। मनुष्य के पीछे सफलता दासी की तरह छाया की तरह घूमा करती है। दरिद्रता पास में नहीं फटकने पाती।

मनुष्य जीवन असाधारण लोक हितकारी आत्म हितकारी कार्य करने के लिए मिला हैः सोने खाने पीने, आलस्य में पडे रहने के लिये नहीं मिला। तुम्हारा एक एक श्वास मृत्यु को तुम्हारे समीप बुला रहा है अतः एक क्षण भी व्यर्थ न जाने दो, कोई न कोई कार्य करते रहो, थकावट मिटाने के लिये लेटजाना, घूमना फिरना, सोजाना भी आवश्यक कार्य है।

अन्य खर्चों को कम करके घडी अवश्य खरीदो, और अपने पास रखकर नियत समय पर अपने कार्य करते रहो।

काम सेवन की मर्यादा

सभी सांसारिक कार्यों की सीमा है, सीमासे अधिक कोई भी कार्य लाभ के बजाय हानि पहुचाता है यही कामसेवनके विषय में है। जिन को हम अज्ञानी विवेकशून्य कहते हैं वे पशुपक्षी बहुत सीमित (महदूद) रूपसे कामसेवन करते हैं। सिंह केवल एक बार कामसेवन करता है। उसीसे सिंहिनी को गर्भाधान हो जाता है, उसके पश्चात् साथ साथ रहते हुए भी सिंह सिंहिनी ब्रह्मचर्य से रहते हैं। सैंकडो गायों के झुण्डमें रहता हुआ भी सांड किसी भी गाय पर नहीं चढता जो गाय रजस्वला एवं कामातुर होती है उसीपर चढता है और गर्भिणी करके फिर उसकी ओर देखता भी नही। कुत्ता, बिल्ली हाथी घोडा ऊंट गधा तोता चिडिया आदि सभी पशु पक्षी अपना अधिकांश समय ब्रह्मचर्य से बिताते हैं। इसी कारण वे स्वस्थ हृष्ट पुष्ट रहते हैं, कभी रोगी निर्बल नहीं होते।

विवेक के पुतले और ज्ञान के भंडार हम मनुष्य को भी अपना तथा अपनी जीवन सहचरी पत्नी का स्वास्थ्य सुरक्षित रखने के लिए अपनी कामसेवन की मर्यादा रखनी चाहिये। गर्भाधान के लिए ही उसे काम-सेवन करना चाहिये। गर्भाधान होने पर ब्रह्मचर्य मे रहना चाहिये।

यदि अपने मन पर इतना नियंत्रण न कर सके तो मास में एकवार दो वार या अधिक से अधिक चार वार ही रति क्रीडा करे और पत्नी गर्भिणी हो जाने पर पूर्ण ब्रह्मचर्य से रहे।

एक वार के कामसेवन से जितना वीर्य स्खलित होता है उससे शरीर मृत्युके निकट पहुंचता जाता है 'वीर्य की एक बूंद जीवन को एक घंटे तक स्थिर रखने की शक्ति देती है ऐसा विद्वानोंका मत है अतः जीवनको स्वस्थ प्रसन्न रखनेके लिए अधिकसे अधिक ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिये।

पुरुष ज्वर आदिसे पीडित हो तो उस दशामें तथा उसके पीछे जब तक पूर्ण स्वस्थ न हो जाय तब तक रतिक्रिया से दूर रहें यदि ऐसा न करेगा तो वह राजयक्ष्मा (तपेदिक टी० बी०) का शिकार हो जायेगा। यही बात स्त्री के विषयमें है रोग पीडित निर्बल स्त्री के साथ कामसेवन

स्त्री को क्षयरोग का शिकार बना देता है। इस कारण रोगी दशामें तथा निर्बल कमजोर अवस्था में कामसेवनसे सर्वदा दूर रहना चाहिये।

मोक्ष पुरुषार्थ

संसार दुखका सागर है क्योंकि इसमें दरिद्र व्यक्ति खाने पीने, पहनने ओढनेसे भी तंग रहता है, पद पद पर दूसरोंका मुख देखता है, ठोकरें खाता है, दुत्कारा जाता है, इस कारण दुख पाता है। और धनिक व्यक्ति धनके लोभमें फंस जाता है उस लोभके कारण रात दिन अनेक चिन्ताओं व्याकुलताओं, पापोंसे घिरा रहता है इस कारण उसे भी चैन नहीं मिलती, किसीको शरीरका दुख होता है, किसीको मनका होता है, किसीको परिवारका तो किसीको अपयशका। सारांश यह है कि सब तरह, सदा पूर्ण सुखी संसारमें कोई भी नहीं है, इस कारण बुद्धिमान पुरुषका कर्तव्य है कि संसारके कारागार (जेल) से छूटकर पूर्ण सुखी होनेका यत्न करे।

जिस तरह मकडी अन्य मक्खियोंको फंसानेके लिये जाल बुनती है आप भी उसीमें फंसकर अपने प्राण दे बैठती है, इसी प्रकार यह संसारी जीव अपने आपको सुखी और दूसरोंको दुखी बनानेके लिये मोह मायामयी जाल बनाता है किन्तु उस जालमें दूसरा प्राणी फंसे या न फंसे यह तो अपने कर्म बन्धनमें स्वयं फंस ही जाता है।

कर्म बन्धनको छिन्न भिन्न करके आत्माका शुद्ध, निरंजन, निर्विकार हो जाना ही मोक्ष है। मुक्त हो जाने पर न कोई दुख रहता है, न जन्म मरण रूप आवागमन रहता है, न कोई चिन्ता, व्याकुलता। सदाके लिये पूर्ण सुखी हो जाता है।

मोक्ष प्राप्त करनेके लिये यत्न करना ही मोक्ष पुरुषार्थ है। इसके लिये सबसे प्रथम हृदयमें यह अटल विश्वास होना चाहिये कि "मैं अजर अमर अजन्मा हूं, संसार, शरीर, परिवार सबसे अलग हूँ, अणुमात्र भी अन्य पदार्थ मेरा नहीं है, अतः इस संसारमें न कोई मेरा मित्र है और न कोई शत्रु है। मैं अविनाशी, पूर्णज्ञानी, पूर्णसुखी हूँ जो शुद्ध बुद्ध परमात्माका रूप है वही रूप मेरा है।"

ऐसा अटल विश्वास होना मोक्षपुरुषार्थका मूल है। इसी दृढ श्रद्धा के कारण आत्माकी अनुभूति होती है इसीको आत्माका 'सम्यग्दर्शन' कहते हैं।

सम्यग्दर्शन वाले जीवको आत्माका अनुभव हो आनेके कारण जो आल्हाद-आनन्द मिलता है उसकी तुलना संसारके किसी भी विषयभोग से नहीं की जा सकती। उस आत्मश्रद्धालु व्यक्ति की दृष्टि, विचार, अनुभव अन्दर (आत्मा) की ओर हो जाता है, बाहर की तरफ (संसार में) उसकी रंचमात्र भी रुचि नहीं रहती, इसी कारण वह घर परिवार तथा संसारके, व्यवहारके जितने भी कार्य करता है, यहां तक कि इन्द्रिय भोगोंको भी भोगता है वह अरुचिसे, उदासीन भावसे तथा उपेक्षासे उन सब कामोंको करता है। या यों कहना चाहिये कि परिस्थितिवश उसको वे सब काम करने पडते हैं, स्वयं अपने मनसे उन्हें नहीं करता। जैसे धाय अन्य किसी माताके पुत्रका लालन पालन करती है, उसको अपने स्तनोंका दूध भी पिलाती है, ऊपरसे पालन पोषणकी वे सारी क्रियाएं करती है जैसी कि असली माता किया करती है किन्तु अन्दरसे वह उसको उतना प्रेम नहीं करती जितना कि माता को करना चाहिये, मनसे वह यही अनुभव करती है कि यह मेरा पुत्र नहीं है। या जैसे वेश्या व्यभिचारी पुरुषोंके साथ दिखावटी प्रीति दिखलाती है, मनमें उसका प्रेम केवल रुपये पैसेके साथ होता है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि (आत्म श्रद्धालु) पुरुष ऊपरसे सब सांसारिक कार्य करता है परन्तु विमनस्क (बेमना) होकर। मनकी रुचि उसकी आत्मा की ओर लगी रहती है। इस कारण वह संसारमें रहता हुआ भी संसार से अलग रहता है, 'संसार उसके मनमें नहीं रहता, वह संसार में रहता है या उसे संसारमें परिस्थितिवश रहना पडता है।'

इसीलिये संसारके सब काम करते हुए भी वह उन कामोंसे विरक्त रहनेके कारण उनका कर्ता नहीं होता।

इसीको 'अनासक्ति' (सांसारिक कार्योंमें आसक्ति न होना) भाव कहते हैं।

उस 'आत्म-अनुभवीका ज्ञान इसी कारण यथार्थ ज्ञान या सम्यग्ज्ञान कहलाता है कि उसके ऊपरसे मोहका अज्ञानमयी पर्दा हट गया है, मोहके अन्धकारमें वह पहले अपने प्रकाशमय, सुखमय, शान्तिके स्रोत आत्माको नहीं जान पाता था, केवल बाहरकी वस्तुओंको जानता हुआ अपनेको ज्ञानी समझता था, किन्तु अब उसका दृष्टिकोण आत्मा पर केन्द्रित होकर अन्य पदार्थोंको यथार्थ पर रूपमें जानता है, इसी कारण किसीको अच्छा या बुरा समझनेकी आदत उससे छूट जाती है, उसके हृदयका नेत्र खुल जाता है जिससे वह अपने भीतरी—कभी न बुझने वाले अनुभव प्रकाशको देखता ही रहता है।

बाहरमें यदि वह कुछ करना चाहता है तो उस परम वीतराग अर्हन्त देव (जो कि निर्मलताका सर्वोच्च आदर्श है) की उपासना क्योंकि भगवान अर्हन्तदेवकी प्रसन्न, शान्त, वीतराग मूर्तिमें उसको अपने आत्माका रूप दीख पडता है, अतः सभी देवी देवताओंको छोडकर अर्हन्तका भक्त बनता है उनकी भक्ति करते समय वह तन्मय हो जाता है। वह उस दर्शन पूजन भक्तिका फल, धन सम्पत्ति, राजवैभव, देवइन्द्र पद, चक्रवर्तीपन अथवा पुत्र, स्त्री आदि नहीं चाहता वह तो इनको तुच्छ और हेय (त्यागने योग्य) समझता है।

चक्रवर्तिकी सम्पदा इन्द्र सरीखे भोग।
काकवीट ज्यों गिनत हैं, सम्यग्दृष्टी लोग॥

वह तो अटूट, अक्षय, अनन्त, निराकुल आत्म सुखनिधि चाहता है, वह अनन्त ज्ञानज्योति चाहता है जो न कभी बुझती है और न कभी कम होती है।

वह उस गुरुका सेवक बनता है जो समस्त आरम्भ परिग्रह, विषय, कषायोंको छोडकर आत्मनिधि पानेके लिये दिगम्बर तपस्वी बन गया है और कर्मबन्धन काटनेका यत्न कर रहा है।

उसकी रुचि वीतराग देवकी वाणी जिनवाणीके स्वाध्यायमें लगी रहती है क्योंकि उसमें आत्म शुद्धिकी रीति बतलाई गई है संसार, शरीर, भोगोंकी निःसारता खोलकर समझाई गई है, और उसमें आत्मा

परमात्मा, संसार मोक्ष, कर्मवन्ध, निर्जराका विशद विवेचन किया गया है।

वह आत्मश्रद्धालु, यथार्थज्ञानी खाते पीते, चलते फिरते व्यापार करते, विषय भोगोंको भोगते, अनिच्छासे युद्ध भूमिमें युद्ध करते हुए सोते जागते, यानी समस्त सांसारिक काम करते हुए भी उनमें अपनी रुचि अपना मन जरा भी नहीं लगाता अतः जो कुछ भी करता है उसको अहितकारी जानकर उसमें आसक्त नहीं होता, अनासक्त रहता है किसी भी संसारी कामकी अपेक्षा नहीं करता निरपेक्ष दृष्टिसे करता है किसी भी पदार्थको प्राप्त करनेकी उसके हृदयमें इच्छा नहीं होती अतः निष्काम भावसे सब कुछ करता है।

यदि किसीको दान देता है, किसीका दुख दूर करता है, किसी दीन दुखीकी सेवा करता है, कोई परोपकारका काम करता है, किसी दीन अनाथकी रक्षा करता है, पालन पोषण करता है, देशसेवा समाज सेवा, धर्म प्रचार, विद्याप्रचार का काम करता है तो उसके बदलेमें इंचमात्र भी कुछ नहीं चाहता, अपना यश, बडाई आदिकी उसे लेशमात्र भी अभिलाषा नहीं होती, 'निष्काम भावनासे' ही वह सब कुछ किया करता है।

इस प्रकार गृहस्थाश्रममें रहते हुए भी वह गृहसे ऐसा अलग रहता है जैसे पानीमें रहते हुए भी कमल पानीसे अलग रहता है अथवा कीचडमें पडा हुआ भी सोनेका टुकडा सोना ही बना रहता है। उसकी आन्तरिक स्वच्छतामें कुछ अन्तर नहीं आता। छह खंडका राज्य करनेवाले सम्राट भरत चक्रवर्तीके समान सब कुछ करता हुआ भी कुछ नहीं करता। संसारकी समस्त विभूति उसके बाहर ही रहती है, उसके मनमें एक कौडीभी नहीं रहने पाती।

यदि उस आत्म श्रद्धालुको जरा भी अवसर मिलता है तो वह उस गृहस्थाश्रमकी कीचडसे भी निकल बाहर हो जाता है फिर तो वह बाहरी वस्तु परिवार-परिग्रहको छोडकर किसी वन पर्वत आदि ऐसे एकान्त स्थान पर जा बैठता है जहां कि उसे संसारका कोलाहल सुनाई

न दें, रंगीले भड़कीले पदार्थ न दीख पड़ें, जहां बनावटी, दिखावटी बातें दृष्टिगोचर न हों प्रकृतिका स्वच्छ, शान्त वातावरण जहां पाया जाता हो जिससे उसका ध्यान किसी दूसरी ओर न जा सके।

उस समय वह अपने गुरुसे आज्ञा और आशीर्वाद लेकर गुरुका वह भेष बना लेता है जो कि प्रत्येक मनुष्यको प्रकृतिने दिया है, जिस वेशको यह कामी, लोभी विलासी और निर्बल मनुष्य अनेक प्रकारके वस्त्र आभूषण पहनकर विकृत कर देता है। छोटे बच्चोंको जिस प्रकार कामवासनाकी हृदयमें छायाभी न होने से लंगोटी पहननेकी भी आवश्यकता नहीं उसी प्रकार वह कामविजेता वीर लंगोटी तकको छोड़ कर नग्न, दिगम्बर (दिशाओंको वस्त्र समझने वाला) वेशको धारण करता है और अपने शरीरसे इतना विरक्त हो जाता है कि सिवाय थोड़े से शुद्ध निर्दोष भोजन पानेके (वह भी विरक्त निर्लालसा रूपसे) अपने शरीरके लिये और कुछ नहीं चाहता, मनोहर विषय भोग जिसके विरक्त मनको अपनी ओर किसीभी तरह आकर्षित नहीं कर सकते।

वह परमधीर वीर आत्मज्ञानी साधु अपने मन वचन कायकी वृत्तिको इतनी शुद्ध अहिंसक बना लेता है कि कोई मनुष्य उसको किसी भी तरह मारे अपमान करे तो उस पर उसको इंचमात्र क्रोध नहीं आता, उसके लिये उसके हृदयमें द्वेष भाव उत्पन्न नहीं होता उस व्यक्तिसे अपकारका बदला लेनेकी भावना नहीं होती और यदि कोई उस साधुकी सेवा पूजा प्रशंसा करे तो उस पर प्रसन्न नहीं होता न उससे प्रेम करता है। सब शत्रुमित्र को एक समान समझकर अपनी समताका परिचय देता है। उसकी अहिंसाका प्रभाव इतना फैलता है कि स्वभावसे हिंसक सिंह भी उस साधुके चरणोंमें बैठकर शान्त हो जाता है और अहिंसाका पाठ पढता है एवं अपने पासमें बैठे हुए अपने शिकार हिरनको कुछ नहीं कहता।

वही साधु अपने आत्माको परमात्मा बनानेके लिये जब आत्म-ध्यानमें लीन होता है तब अपने शरीरको पद्मासन या खडगासनमें निश्चल बना देता है, वचनकी क्रियाको बिलकुल रोक देता है और

अपने मानसिक संकल्प विकल्पोंको एक दम हटा देता है। नेत्रोंकी दृष्टि को नाकके अगले भाग पर जमा देता है निर्भय रूपसे आत्मलीनता का कार्य प्रारम्भ करता है। वह उस समय आत्मध्यानमें इतनी दृढता के साथ लीन होता है कि बाहर क्या कुछ हो रहा है उसका उसे रंचमात्र भी भान नहीं होता। शीत. ग्रीष्म वर्षाका नग्न शरीर पर जो प्रभाव पडता है उसका उसको अनुभव नहीं हो पाता। यदि कोई दुष्ट व्यक्ति उस आत्मलीनताके समय उनके शरीरको मृत्युदायक भी कष्ट देवे, अग्नि, शस्त्र अस्त्र आदिसे छिन्न भिन्न कर दे तब भी उनको उस वेदनाका अनुभव इस कारण नहीं होता कि उनकी चित्तवृत्ति आत्मामें लीन होती है।

भगवान ऋषभदेवके पुत्र बाहुबलीने अचल खडे रहकर बराबर एक वर्ष तक ऐसा ही आत्मध्यान किया था। उनके शरीरपर बेलें चढ गई, सर्प चढते उतरते रहे किन्तु उनकी आत्मलीनतामें अन्तर नहीं आया, गजकुमार, सुकुमाल आदि अनेक साधुओंने अपने आत्मध्यानके समय अपने राजसुखपालित कोमल शरीर पर अग्निसे जलने तथा गीदडी द्वारा खाये जाने आदिकी मृत्युदायिनी पीडाका अनुभव भी नहीं किया।

ऐसे आत्मध्यानसे आत्माके समस्त कर्मपुञ्ज, मगरतदोष, अज्ञान (ज्ञानकी अपूर्णता) मोह, कषाय दूर हो जाते हैं और आत्मा पूर्ण शुद्ध पूर्णज्ञानी, पूर्णसुखी बन जाता है, वह फिर कभी जन्म, मरण नहीं करता और सदाके लिये दुखमय संसारसे पार हो जाता है। इसीका नाम 'मोक्षपुरुषार्थ है जो कि आत्माकी सर्वोच्च उन्नत दशा है। मुक्त आत्मासे अधिक उन्नत और कोई आत्मा नहीं होता इसलिये उसको ही परम-आत्मा या परमात्मा, परमेश्वर, ईश्वर, सिद्ध, सच्चिदानंद आदि कहते हैं।

अपने पूज्य गुरु मुनिराज वीरभद्रका उक्त उपदेश सुनकर प्रसन्न वदन होता हुआ राजा वीरदमन मुनि महाराजको नमस्कार करके

अपने घर आया। वहां जाकर उसने अपने वीर सामन्तों तथा सेनाको लेकर अपने शत्रु राज्योंपर चढाई करदी और थोडे ही समयमें उनको जीतकर सब जगह शान्तिकी स्थापना की, अपने शत्रुराजाओंको धर्म प्रिय, न्यायप्रिय शासक बनाया।

फिर अपनी राजगद्दी पर अपने लघुभ्राता शत्रुदमनको बिठाकर आप सब राजपरिकर और समस्त भोग सामग्री, तथा अपने परिवार का परित्याग करके गुरुचरणोंमें जा बैठा।

गुरुके आदेशसे उसने मुनिदीक्षा ग्रहण की और कठिन तपोमार्ग पर चलकर आत्मशुद्धि करने लगा, कुछ समय पीछे जनताने देखा कि राजा वीरदमन घाति कर्मचक्रको जीतकर जीवन्मुक्त अर्हन्त बन गया है। अर्हन्त दशामें उसने संसारको धर्मपंथ दिखलाया फिर अवशिष्ट अघातिकर्मोंका नाश करके वह पूर्णमुक्त सिद्ध परमात्मा बनगया!